

समरथ

जुलाई-अगस्त 2016 ♦ नई दिल्ली



नाहि तो जनम नसाई

मुल्क आज़ाद हुआ 15 अगस्त 1947 को, पर मुल्कवाले? उनकी आज़ादी तो आज तक मुकम्मल नहीं हो पाई। इस आज़ादी को अगर हाशिए के लोगों के साथ खड़े होकर देख पाएँ तो आज़ाद हिंदुस्तान की यह तस्वीर बदरंग दिखती है और स्याह भी।

सुकून की बात इतनी है कि इस देश की जनता इस तस्वीर को बदलने की छोटी-बड़ी कोशिशों में जुटी है लगातार।

ऐसी ही एक कोशिश के गवाह बने हम सब जब गो रक्षकों ने गुजरात के ऊना में दलितों को निर्ममतापूर्वक पीटा। प्रशासन ने इन गो रक्षकों पर कोई कार्रवाई नहीं की। बल्कि घटनास्थल पर पुलिस वालों की उपस्थिति तो इस मामले में उनकी शिरकत का ही सबूत थी।

ऊना में जो हुआ वह देश के अधिकतर हिस्सों में होने वाले दलित उत्पीड़न के तमाम किस्सों में से एक और किस्सा भर रह जाता पर इस घटना के बाद जो हुआ वह अभूतपूर्व था। गुजरात के दलित समुदायों ने संगठित प्रतिरोध किया और इसी क्रम में सुरेंद्रनगर ज़िला मुख्यालय व दूसरी जगहों पर मरी हुई 'गो-माताओं' के ढेर लगा दिए उन्होंने यह कहते हुए कि 'तुम्हारी माँ है तो तुम्हीं ठिकाने लगाओ'। इस प्रतीकात्मक और प्रत्यक्ष कार्रवाई ने ब्राह्मणवादी सोच की चूलें हिला दी हैं। यह सीधी चुनौती है और इससे नज़रें मिलाना भी मुश्किल हो रहा है न सिर्फ इस देश की गो भक्त ब्राह्मणवादी राजनीतिक व्यवस्था को बल्कि देश की जनता के एक हिस्से को भी।

जाति व्यवस्था जैसी नृशंसता को जीवित रखने वाले समाज को ऐसे तगड़े झटकों की बहुत ज़रूरत है। वाकई में दलित प्रतिरोध का यह 'गुजरात मॉडल' दरअसल ऐसा मॉडल है जिन्हें सामने रखकर हमारी आज़ादी की छोटी-बड़ी लड़ाईयों को गुजरना है एक ऐसा समाज रचने के लिए जहाँ गैर-बराबरी की जगह ना हो।

कौन आज़ाद हुआ?

■ अली सरदार जाफ़री

कौन आज़ाद हुआ?

किसके माथे से गुलामी की सियाही छूटी

मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमी का

मादरे हिंद के चेहरे पे उदासी है वही

कौन आज़ाद हुआ?

खंज़र आज़ाद है सीने में उतरने के लिए

मौत आज़ाद है लाशों पे गुजरने के लिए

कौन आज़ाद हुआ?

काले बाज़ार में बदशक्ल चुडैलों की तरह

कीमतें काली दुकानों पे खड़ी रहती हैं

हर खरीददार की जेबों को कतरने के लिए

कौन आज़ाद हुआ?

कारखानों में लगा रहता है

सांस लेती हुई लाशों का हुजूम

बीच में उनके फिरा करती है बेकारी भी

अपने खूंखार दहन खोले हुए

कौन आज़ाद हुआ?

रोटियाँ चकलों की कहवाएँ हैं

जिनको सरमाये के दल्लालों ने

नफाखोरी के झरोखों में सजा रखा था

बालियाँ धान की गेहूँ के सुनहरे खोशे

मिस्र-ओ-यूनान के मजबूर गुलामों की तरह

अजनबी देश के बाज़ारों में बिक जाते हैं

और बदबख्त किसानों की तड़पती हुई रूह

अपने अफलास में मुंह ढांप के सो जाती है

कौन आज़ाद हुआ?

तालाब बांधता धरम सुभाव

■ अनुपम मिश्र

जो समाज को जीवन दे, उसे निर्जीव कैसे माना जा सकता है? तालाबों में, जलस्रोत में जीवन माना गया और समाज ने उनके चारों ओर अपने जीवन को रचा। जिसके साथ जितना निकट का संबंध, जितना स्नेह, मन उसके उतने ही नाम रख लेता है। देश के अलग-अलग राज्यों में, भाषाओं में, बोलियों में तालाब के कई नाम हैं। बोलियों के कोष में, उनके व्याकरण के ग्रंथों में पर्यायवाची शब्दों की सूची में तालाब के नामों का एक भरा-पूरा परिवार देखने को मिलता है। डिंगल भाषा के व्याकरण का एक ग्रंथ हमीर नाम-माला तालाबों के पर्यायवाची नाम तो गिनाता ही है, साथ ही उनके स्वभाव का भी वर्णन करते हुए तालाबों को 'धरम सुभाव' कहता है।

लोक धरम सुभाव से जुड़ जाता है। प्रसंग सुख का हो तो तालाब बन जाएगा। प्रसंग, दुःख का भी हो तो तालाब बन जाएगा। जैसलमेर, बाड़मेर में परिवार में साधन कम हों, पूरा तालाब बनाने की गुंजाइश न हो तो उन सीमित साधनों का उपयोग पहले से बने किसी तालाब की पाल पर मिट्टी डालने, छोटी-मोटी मरम्मत करने से होता था। मृत्यु किस परिवार में नहीं आती? हर परिवार अपने दुखद प्रसंग को समाज के सुख के लिए तालाब से जोड़ देता था।

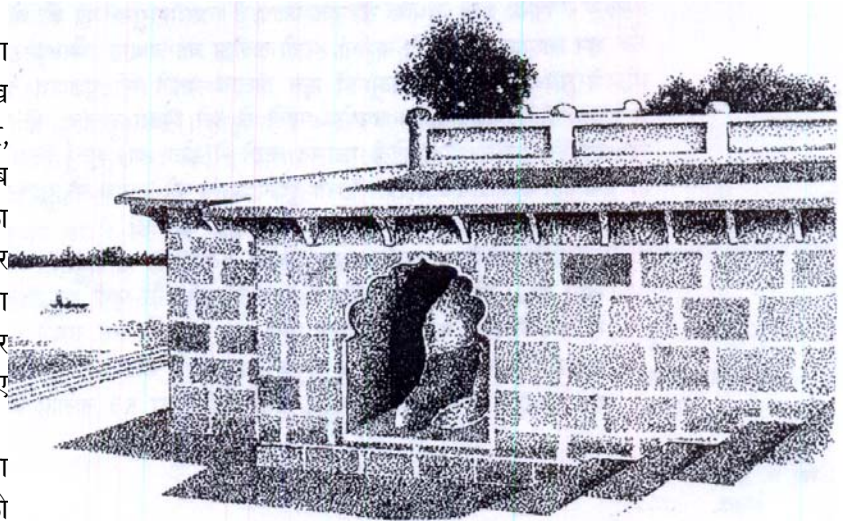
पूरे समाज पर दुख आता, अकाल पड़ता तब भी तालाब बनाने का काम होता। लोगों को तात्कालिक राहत मिलती और पानी का इंतजाम होने से बाद में फिर कभी आ सकने वाले इस दुख को सह सकने की शक्ति समाज में बनती थी। बिहार के मधुबनी इलाके में छठवीं सदी में आए एक बड़े अकाल के समय पूरे क्षेत्र के गांवों ने मिलकर 63 तालाब बनाए थे। इतनी बड़ी योजना बनाने से लेकर उसे पूरी करने तक के लिए कितना बड़ा संगठन बना होगा, कितने साधन जुटाए गए होंगे - नए लोग, नई सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं, इसे सोचकर तो देखें। मधुबनी में ये तालाब आज भी हैं और लोग आज भी कृतज्ञता से याद रखे हैं।

कहीं पुरस्कार की तरह तालाब बना दिया जाता, तो कहीं तालाब बनाने का पुरस्कार मिलता। गोंड राजाओं की सीमा में जो भी तालाब बनाता, उसे उसके नीचे की जमीन का लगान नहीं देना पड़ता था। संबलपुर क्षेत्र में यह प्रथा विशेष रूप से

मिलती थी।

दंड-विधान में भी तालाब मिलता है। बुंदेलखंड में जातीय पंचायतें अपने किसी सदस्य की अक्षम्य गलती पर जब दंड देती थीं तो उसे दंड में प्रायः तालाब बनाने को कहती थी। यह परंपरा आज भी राजस्थान में मिलती है। अलवर जिले के एक छोटे से गांव गोपालपुरा में पंचायती फैसलों को न मानने की गलती करने वालों से दंड स्वरूप कुछ पैसा ग्राम कोष में जमा करवाया जाता है। उस कोष से यहां पिछले दिनों दो छोटे-छोटे तालाब बनाए गए हैं।

गड़ा हुआ कोष किसी के हाथ लग जाए तो उसे अपने पर



नहीं, परोपकार में लगाने की परंपरा रही है। परोपकार का अर्थ प्रायः तालाब बनाना या उनकी मरम्मत करना माना जाता था। कहा जाता है कि बुंदेलखंड के महाराज छत्रसाल के बेटे को गड़े हुए खजाने के बारे में एक बीजक मिला था। बीजक की सूचना के अनुसार जगतराज ने खजाना खोद निकाला। छत्रसाल को पता चला तो बहुत नाराज हुए : 'मृतक द्रव्य चंदेल को, क्यों तुम लियो उखार'। अब जब खजाना उखाड़ ही लिया है तो उसका सबसे अच्छा उपयोग किया जाएगा। पिता ने बेटे को आज्ञा दी कि उससे चंदेलों के बने सभी तालाबों की मरम्मत की जाए और नए तालाब बनवाए जाएं। खजाना बहुत बड़ा था। पुराने तालाबों की मरम्मत हो गई और नए भी बनने शुरू हुए।

वंशवृक्ष देखकर विक्रम संवत् 286 से 1162 तक की 22 पीढ़ियों के नाम पर पूरे 22 बड़े-बड़े तालाब बने थे। ये बुंदेलखंड में आज भी हैं।

गड़ा हुआ धन सबको नहीं मिलता। लेकिन सबको तालाब से जोड़कर देखने के लिए भी समाज में कुछ मान्यताएं रहीं हैं। अमावस और पूर्णों, इन दो दिनों को कारज यानी अच्छे और वह भी सार्वजनिक कामों का दिन माना गया है। इन दोनों दिनों में निजी काम से हटने और सार्वजनिक काम से जुड़ने का विधान रहा है। किसान अमावस और पूर्णों को अपने खेत में काम नहीं करते थे। उस समय का उपयोग वे अपने क्षेत्र के तालाब आदि की देखरेख व मरम्मत में लगाते थे। समाज में श्रम भी पूंजी है और उस पूंजी को निजी हित के साथ सार्वजनिक हित में भी लगाते जाते थे।

श्रम के साथ-साथ पूंजी का अलग से प्रबंध किया जाता रहा है। इस पूंजी की जरूरत प्रायः ठंड के बाद, तालाब में पानी उतर जाने पर पड़ती है।

तब गरमी का मौसम सामने खड़ा है और यही सबसे अच्छा समय है तालाब में कोई बड़ी टूट-फूट पर ध्यान देने का। वर्ष की बारह पूर्णिमाओं में से ग्यारह पूर्णिमाओं को श्रमदान के लिए रखा जाता रहा है पर पूस माह की पूर्णों पर तालाब के लिए धान या पैसा एकत्र किये जाने की परंपरा रही है। छत्तीसगढ़ में उस दिन छेरा-छेरा त्योहार मनाया जाता है। छेरा-छेरा में लोगों के दल निकलते हैं, घर-घर जाकर गीत गाते हैं और गृहस्थ से धान एकत्र करते हैं। धान की फसल कट कर घर आ चुकी होती है। हरेक घर अपने-अपने सामर्थ्य से धान का दान करता है। इस तरह जमा किया गया धान ग्रामकोष में रखा जाता है। इसी कोष से आने वाले दिनों में तालाब और अन्य सार्वजनिक स्थानों की मरम्मत और नए काम पूरे किए जाते हैं।

सार्वजनिक तालाबों में तो सबका श्रम और पूंजी लगती ही थी, निहायत निजी किस्म के तालाबों में भी सार्वजनिक स्पर्श आवश्यक माना जाता रहा है। तालाब बनने के बाद उस इलाके के सभी सार्वजनिक स्थलों से थोड़ी-थोड़ी मिट्टी लाकर तालाब में डालने का चलन आज भी मिलता है। छत्तीसगढ़ में तालाब बनते ही उसमें घुड़साल, हाथीखाना, बाजार, मंदिर, श्मशान भूमि, वैश्यालय, अखाड़ों और विद्यालयों की मिट्टी डाली जाती थी।

शायद आज ज्यादा पढ़-लिख जाने वाले अपने समाज से कट जाते हैं। लेकिन तब बड़े विद्या केंद्रों से निकलने का अवसर तालाब बनवाने के प्रसंग में बदल जाता था। मधुबनी, दरभंगा क्षेत्र में यह परंपरा बहुत बाद तक चलती रही है।

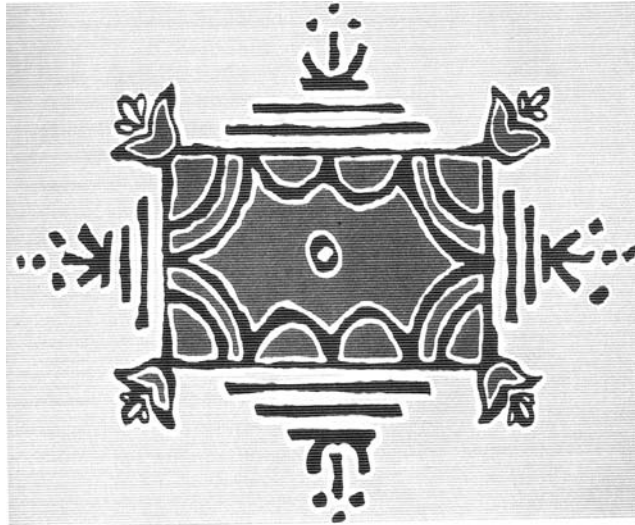
तालाबों में प्राण हैं। प्राण प्रतिष्ठा का उत्सव बड़ी धूमधाम से होता था। उसी दिन उनका नाम रखा जाता था। कहीं-कहीं ताम्रपत्र या शिलालेख पर तालाब का पूरा विवरण उकेरा जाता था।

कहीं-कहीं तालाबों का पूरी विधि के साथ विवाह भी होता था। छत्तीसगढ़ में यह प्रथा आज भी जारी है। विवाह से पहले तालाब का उपयोग नहीं हो सकता। न तो उससे पानी निकालेंगे और न उसे पार करेंगे। विवाह में क्षेत्र के सभी लोग, सारा गांव पाल पर उमड़ आता है। आसपास के मंदिरों की मिट्टी लाई जाती है, गंगा जल आता है और इसी के साथ अन्य पांच या सात कुंओं या तालाबों का जल मिलाकर विवाह पूरा होता है। कहीं-कहीं बनाने वाले अपने सामर्थ्य के हिसाब से दहेज तक का प्रबंध करते हैं।

विवाहोत्सव की स्मृति में भी तालाब पर स्तंभ लगाया जाता है। बहुत बाद में जब तालाब की सफाई-खुदाई दुबारा होती है, तब भी उस घटना की याद में स्तंभ लगाने की परंपरा रही है।

आज बड़े शहरों की परिभाषा में आबादी का हिसाब केंद्र में है। पहले बड़े शहर या गांव की परिभाषा में उसके तालाबों की गिनती होती थी। कितनी आबादी का शहर या गांव है, इसके बदले पूछा जाता था कितने तालाबों का गांव है। छत्तीसगढ़ी में बड़े गांव के लिए कहावत है कि वहां 'छै आगर छै कोरी' यानी 6 बीसी और 6 अधिक, 120 और 6, या 126 तालाब होने चाहिए। आज के बिलासपुर जिले के मल्हार क्षेत्र में, जो ईसा पूर्व बसाया गया था, पूरे 126 तालाब थे। उसी क्षेत्र में रतनपुर (दसवीं से बारहवीं शताब्दी), खरौदी (सातवीं से बारहवीं शताब्दी), रायपुर के आरंग और कुबरा और सरगुजा जिलों के दीपाडीह गांव में आज आठ सौ, हजार बरस बाद भी सौ, कहीं-कहीं तो पूरे 126 तालाब गिने जा सकते हैं।

इन तालाबों के दीर्घ जीवन का एक ही रहस्य था - ममत्व। यह मेरा है, हमारा है। ऐसी मान्यता के बाद रख-रखाव जैसे शब्द छोटे लगने लगेंगे। भुजालिया के आठों अंग पानी में डूब सकें। इतना पानी ताल में रखना - ऐसा गीत गाने वाली, ऐसी कामना करने वाली स्त्रियां हैं तो उनके पीछे ऐसा समाज



भी रहा है जो अपने कर्तव्य से इस कामना को पूरा करने का वातावरण बनाता था। घरगैल, घरमैल यानी सब घरों के मेल से तालाब का काम होता था।

सबका मेल तीर्थ है। जो तीर्थ न जा सकें, वे अपने यहां तालाब बनाकर ही पुण्य ले सकते हैं। तालाब बनाने वाला पुण्यात्मा है, महात्मा है। जो तालाब बचाए, उसकी भी उतनी ही मान्यता मानी गई है। इस तरह तालाब एक तीर्थ है। यहां मेले लगते हैं। और इन मेलों में जुटने वाला समाज तालाब को अपनी आंखों में, मन में बसा लेता है।

तालाब समाज के मन में रहा है। और कहीं-कहीं तो उसके तन में भी। बहुत से वनवासी समाज गुदने में तालाब, बावड़ी आज भी गुदवाते हैं। गुदनों के चिन्हों में पशु-पक्षी, फूल आदि के साथ-साथ सहरिया समाज में सीता बावड़ी और साधारण बावड़ी के चिन्ह भी प्रचलित हैं। सहरिया शबरी को अपना पूर्वज मानते हैं। सीता जी से विशेष संबंध है। इसलिए सहरिया अपने पिंडलियों पर सीता बावड़ी बहुत चाव से गुदवाते हैं। सीता बावड़ी में एक मुख्य आयत है। भीतर लहरें हैं। बीचों-बीच एक बिन्दु है जो जीवन का प्रतीक है। आयत के बाहर सीढ़ियां हैं और चारों कोनों पर फल हैं और फूल में है जीवन की सुगंध - इतनी सब बातें एक सरल, सरस रेखाचित्र में उतार पाना बहुत कठिन है। लेकिन गुदना गोदने वाले कलाकार और गुदवाने वाले स्त्री-पुरुषों का मन तालाब, बावड़ी में इतना रमा रहा है कि आठ-दस रेखाएं, आठ-दस बिंदियां पूरे दृश्य को तन पर सहज ही उकेर देती हैं। यह प्रथा तमिलनाडु के दक्षिण आरकाट जिले के कुंराऊं समाज में भी है।

जिसके मन में, तन में तालाब रहा हो, वह तालाब को केवल पानी के एक गड्ढे की तरह नहीं देख सकेगा। उसके लिए तालाब एक जीवंत परंपरा है, परिवार है और उसके कई संबंध, संबंधी हैं। किस समय किसे याद करना है, ताकि तालाब बना रहे - इसकी भी उसे पूरी सुध है।

यदि समय पर पानी नहीं बरसे तो किस तक मनुहार पहुंचानी है? इन्द्र हैं वर्षा के देवता। पर सीधे उनको खटखटाना कठिन है, शायद ठीक भी नहीं। उनकी बेटी हैं काजल। काजल माता तक अपना संकट पहुंचाएं तो वे अपने पिता का ध्यान इस तरफ अच्छे से खींच सकेंगी। बोनी हो जाए और एक पखवाड़े तक पानी नहीं बरसे तो फिर काजल माता की पूजा होती है। पूरा गांव कांकड़बनी यानी गांव की सीमा पर लगे वन में तालाब तक पूज्यगीत गाते हुए एकत्र होता है। फिर दक्षिण दिशा की ओर मुंह कर सारा गांव काजल माता से पानी की याचना करता है - दक्षिण से ही पानी आता है।

काजल माता को पूजने से पहले कई स्थानों में पवन-परीक्षा भी की जाती है। यह आषाढ शुक्ल पूर्णमा पर होती है। इन तालाबों पर मेला भरता है और वायु की गति देखकर पानी

की भविष्यवाणी की जाती है। उस हिसाब से पानी समय पर गिर जाता है, न गिरे तो फिर काजल माता को बताना है।

तालाब लबालब भर जाना भी एक बड़ा उत्सव बन जाता। समाज के लिए इससे बड़ा और कौन सा प्रसंग होगा कि तालाब की अपरा चल निकलती है। भुज (कच्छ) के सबसे बड़े तालाब हमीरसर के घाट पर बनी हाथी की एक मूर्ति अपरा चलने की सूचक है। जब जल इस मूर्ति को छू लेता तो पूरे शहर में खबर फैल जाती थी। शहर तालाब के घाटों पर आ जाता। कम पानी का इलाका इस घटना को एक त्योहार में बदल लेता। भुज के राजा घाट पर आते और पूरे शहर की उपस्थिति में तालाब की पूजा करते और पूरे भरे तालाब का आशीर्वाद लेकर लौटते। तालाब का पूरा भर जाना, सिर्फ एक घटना नहीं, आनंद है, मंगल सूचक है, उत्सव है, महोत्सव है। वह प्रजा और राजा को घाट तक ले आता था।

इन्हीं दिनों देवता भी घाट पर आते हैं। जल झूलन त्योहार में मंदिरों की चल मूर्ति तालाब तक लाई जाती हैं और वहां पूरे श्रृंगार के साथ उन्हें झूला झुलाया जाता है। भगवान भी सावन के झूलों की पेंग का आनंद उठाते हैं।

कोई भी तालाब अकेला नहीं है। वह भरे पूरे जल परिवार का एक सदस्य है। उसमें सबका पानी है और उसका पानी सब में है - ऐसी मान्यता रखने वालों ने एक तालाब सचमुच ऐसा भी बना दिया था। जगन्नाथपुरी के मंदिर के पास बिंदुसागर में देश भर के हर जल स्रोत का, नदियों और समुद्रों तक का पानी मिला है। दूर-दूर से, अलग-अलग दिशाओं से पुरी आने वाले भक्त अपने साथ अपने क्षेत्र का थोड़ा-सा पानी ले आते हैं और उसे बिंदुसागर में अर्पित कर देते हैं।

देश की एकता की परीक्षा की इस घड़ी में बिंदुसागर 'राष्ट्रीय एकता का सागर' कहला सकता है। बिंदुसागर जुड़े भारत का प्रतीक है।

आने वाला समय कैसा होगा? यह बताना हमेशा बड़ा कठिन रहा है। लेकिन इसका एक मापदंड तालाब भी था। नवरात्र के बाद जवारे विसर्जित होते हैं। राजस्थान में इस अवसर पर लोग तालाबों पर एकत्र होते और तब भोपा यानी पुजारी जी विसर्जन के बाद तालाब में पानी का स्तर देखकर आने वाले समय की भविष्यवाणी करते थे। बरसात तब तक बीत चुकी होती है। जितना पानी तालाब में जमा होना था, वह हो चुका है। अब इस स्थिति पर निर्भर है आने वाले समय की परिस्थितियां।

आज यह प्रथा मिट-सी गई है। तालाब में जल-स्तर को देख आने वाले समय की भविष्यवाणी करनी हो तो कई तालाबों पर खड़े भोपा शायद यही कहते कि बुरा समय आने वाला है।

क्रमशः

(साभार : आज भी खरे हैं तालाब)

उन्नीसवीं सदी की वापसी

मुक्त बाजार के पैरोकार अमरीका का एक सच यह भी

■ जी जॉन सिट

बिग लेबर

यह बात तो आपको ज्ञात ही होगी की अमरीका में संगठित श्रम के लिए 'बिग लेबर' शब्द युग्म का प्रयोग अपमान स्वरूप किया जाता है। पर मैं ये पूछना चाहता हूँ कि आखिर बचा कहाँ है ये 'बिग लेबर'? पिछले साल मजदूर यूनियन में भागीदारी कुल श्रमशक्ति की मात्र 11.8 प्रतिशत ही रह गयी थी और निजी क्षेत्र के सन्दर्भ में तो यह प्रतिशत और भी नीचे 6.6 प्रतिशत तक आ जाता है। निजी क्षेत्र में यूनियन की ऐसी खस्ता हालत का उदाहरण ढूँढने के लिए तो उन्नीसवीं सदी तक जाना होगा। श्रम अधिकारों की बातें तो जैसे पिछले दौर की बातें हो चुकी हैं।

अभूतपूर्व गैर-बराबरी

मजदूर यूनियनों और मध्यम वर्ग के सफाये के अलावा गैर-बराबरी के स्तर में भी नाटकीय बढ़ोत्तरी हुई है। अगर विकसित देशों की तुलना की जाए तो संयुक्त राज्य अमरीका में गैर बराबरी का स्तर सबसे ज्यादा है। ऐसी गैर बराबरी तो 'डाकू बैरनों' (उन्नीसवीं सदी में दुष्ट उद्योगपतियों को रॉबर (चोर) बैरन बुलाया जाता था) के दौर में भी ना थी। बल्कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी की आज अमरीका में गैर-बराबरी का स्तर 18वीं सदी के स्तर तक जा चुका है। ऐसी आशंका है की अमरीकी आय में असमानता का स्तर 1774 के स्तर से भी नीचे जा चुका है और वह भी तब जब आज दास प्रथा सांस्थानिक रूप में मौजूद नहीं है! हम और भी घिनौने रूपों में दास प्रथा के प्रारूपों की वापसी देख रहे हैं।

नए पागलखाने

पचास साल पहले लोग यह सोच कर हैरान थे की कैसे मानसिक रोगियों को मानसिक अस्पतालों में ठूस कर रख जाता था। अतः सरकार ने उन्हें इन काल कोठरियों से बेहतर जगहों पर रखने की योजनायें बनायीं। पर अब मानो समय का चक्का चलते चलते वापस वहीं पहुँच गया है और मानसिक रोगियों को वापस भेड़ बकरियों की तरह रखा जा रहा है और इस बार तो बेहद खतरनाक जेलों में ठूस कर! हमारे समाज के सबसे कमजोर और ज़रूरतमंद लोगों की तकलीफों से यह समाज पूरी तरह से विमुख हो चुका है। ऐसा लगता है की हमने पिछले 150 साल में मानवता सम्बन्धी जो सबक सीखे थे सब भुला दिए गए हैं।

देश के तीन सबसे बड़े जेल तंत्र - इलिनॉय में कुक काउंटी,

लॉस एंजेलस काउंटी और न्यू यॉर्क सिटी सबसे अधिक प्रश्न के घेरे में हैं। यहाँ हर रोज़ 11000 कैदियों का इलाज किया जाता है। इस लिहाज से यह देश का सबसे बड़ा मानसिक स्वास्थ्य केंद्र है। इसकी तुलना में राज्य द्वारा संचालित तीन बड़े मानसिक अस्पतालों में कुल मिलाकर मात्र 4000 लोगों के लिए ही जगह है।

अमरीकी जेल एसोसिएशन, जोकि जेल कर्मचारियों का संगठन है, के अध्यक्ष एस्तेबान गोंज़ालेज़ कहते हैं, 'मैं जिस शहर या राज्य में गया हूँ, जेल वस्तुतः मानसिक अस्पतालों में बदल चुके हैं।' जबकि दो सदियों पहले मानसिक रोगियों को जेल में रखने के विरुद्ध समाज सुधारकों ने मुहिमें चलाई थीं और राज्य द्वारा मानसिक रोगियों के लिए उचित संस्थान स्थापित और विकसित किये जाने का रास्ता तैयार किया था।

वे दिन लौट आये हैं

कहना ना होगा की आज हालात दास प्रथा के दिनों से भी बदतर हो चुके हैं। गृहयुद्ध के ख़ात्मे के बाद पूरे दक्षिणी क्षेत्र में मालिकों के लिए आसानी से सस्ता और मनचाहा श्रम उपलब्ध होना दूभर हो गया। उन्होंने अपने-अपने राज्यों के प्रतिनिधियों से मदद के लिए गुहार लगायी। इन प्रतिनिधियों ने ऐसी युक्ति सुझाई जिस तरफ अब तक किसी का ध्यान नहीं गया था। उन्होंने कैदियों को मजदूरों की तरह इस्तेमाल करने का रास्ता सुझाया। ये कैदी भी दासों की तरह सहज उपलब्ध थे और किसी भी तरह के अन्य बंधनों से मुक्त थे। इस तरह अभियुक्तों को पट्टे पर लेने की (Convict Leasing) की प्रथा की शुरुआत हुई। इसके तहत कैदी दिन में कंपनियों के लिए काम करते थे और रात अपनी अपनी कोठरियों में गुजारते थे। कैदियों की उपेक्षा, उन पर अत्याचार, और शोषण और सरकारी भ्रष्टाचार अपने चरम पर पहुँच चुका था। स्थितियां इतनी बुरी थीं की शायद ही कोई कैदी दस साल से ऊपर ज़िन्दगी निकाल पाता था। पर चूँकि यह तंत्र सब के लिए लाभकारी था, यकीनन कैदियों के अलावा, इसलिए यह यथावत चलता ही रहा।

बल्कि यह व्यवस्था इतनी सफल थी की श्रम की मांग बढ़ती ही गई। ज़ाहिर है इससे और कैदियों की मांग भी बढ़नी ही थी। कई राज्यों में सामान्य से अपराधों के लिए भी सात से आठ सालों के कड़े श्रम की सजा मिलती थी। क्या आप यकीन करेंगे की

चोरी की सज़ा भी बीस साल की कैदे बामशकृत् थी! पांच डॉलर का सामान भर चुरा लेने की सज़ा बारह महीने की जेल। यहाँ तक की रेल की पटरियों के गिर्द लगी बाड़ को चुराना भी आपको जेल भिजवा सकता था।

यह ज़रूर है की ऐसी स्थिति हर किसी के लिए नहीं थी (मतलब की सिर्फ गोरों के लिए नहीं)। अगर ऐसा होता तो भला गोरे कहाँ सहने वाले थे। पर हाल में ही दासता के बंधनों से मुक्त हुए अश्वेत समुदायों पर उपरोक्त वर्णित निर्मम कानूनों की गहरी मार पड़ी। टेनेसी प्रान्त के मुख्य जेल नैशविले में अक्टूबर 1865 में अफ्रीकी अमरीकियों का प्रतिशत कुल कैदियों का 33 प्रतिशत था। 1866 में टेनेसी ने कैदियों को पट्टे पर देने का कानून पास किया। 1869 तक आते आते जेल के 64 प्रतिशत कैदी अफ्रीकी-अमरीकी थे और आने वाले वर्षों में यह संख्या बढ़ती ही गई। पाठकों को ज्ञात होगा की पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का यह शोषण बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक आते आते मजदूर आंदोलनों और कभी कभी तो हिंसक संघर्ष के चलते खत्म हुआ।

आज मजदूर यूनियनों के कमजोर पड़ने से फिर से वही परिपाटी चल निकली है जहाँ जेलों को सस्ते श्रम के स्रोतों के रूप में देखा जा रहा है और फिर से इस प्रक्रिया के सबसे सीधे शिकार अफ्रीकी-अमरीकी ही हो रहे हैं। यह कहना गलत नहीं होगा की अमरीका का जेल उद्योग एक बार फिर से हिंसक रूप से सक्रिय हो चुका है।

हालाँकि अमरीका को स्वतंत्रता की भूमि के तौर पर देखा जाता है पर इसे जेलों का राष्ट्र भी कहा जा सकता है। लोगों को जेल में डालने की प्रति व्यक्ति दर यहाँ सबसे ऊंची है। अगर इस दर का मिलान अन्य राष्ट्रों से किया जाए तो रूस से यह 50 प्रतिशत ऊपर और चीन से 320 प्रतिशत ऊपर है।

यहाँ जो बात ध्यान रखनी चाहिए वह ये की बड़े स्तर पर लोगों को जेलों में भरना बढ़ती अपराध दर के कारण नहीं है। संयुक्त राज्य अमरीका में यह दर इसलिए इतनी बड़ी हुई है क्योंकि अमरीका बहुत सारे सामान्य कर्मों को भी अपराध की श्रेणी में गिनता है। यहाँ ऐसे लोगों को जो सामान्य रूप से ड्रग्स रखने या इस्तेमाल करने के दोषी पाये जाते हैं पर किसी हिंसक गतिविधि से उनका कोई लेना-देना नहीं होता उन्हें भी लम्बे समय के लिए जेल में डाल दिया जाता है।

इतनी संख्या में लोगों को जेलों में डाल देने का सबसे बुरा असर अश्वेत और हिस्पैनिक समुदाय के लोगों पर पड़ता है। एक गोरे व्यक्ति की तुलना में एक अफ्रीकी-अमरीकी व्यक्ति को जेल में डाल देने की आशंका छह गुना अधिक होती है और एक गैर श्वेत लातिनी व्यक्ति की तीन गुना। कैद का सबसे बुरा प्रकोप ऐसे युवा अश्वेतों और लातिन अमरीकी लड़कों पर पड़ता है जिन्हें हाई स्कूल तक भी शिक्षा नहीं मिली होती। ग्यारह प्रतिशत के ऊंचे प्रतिशत तक अश्वेत पुरुष, बीस साल से चौतीस साल के बीच, आज

सलाखों के पीछे हैं।

इसके अलावा लोगों को जेल में रखने का खर्चा भी बहुत होता है। एक कैदी को जेल में रखने का औसत खर्च सालाना 20,000 से 30,000 डॉलर होता है। यह रकम सीधे-सीधे जनता की जेब से आती है। इस रकम का इस्तेमाल जन शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं और अन्य जन सेवाओं के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। शायद यही सब वजहों की आज ज्यादातर राज्य वित्तीय संकट से जूझ रहे हैं। आइये इसे थोड़ा परिप्रेक्ष्य में रख कर देखते हैं। 2008 में अमेरिकी थिंक टैंक प्यू सेंटर द्वारा करवाए गए अध्ययन से पता चला की कैलिफ़ोर्निया राज्य में बच्चों को शिक्षित करने से ढाई गुना ज्यादा राशि कैदियों की देख रेख में खर्चा होती है। केवल कैलिफ़ोर्निया ही नहीं पांच अन्य राज्य शिक्षा से अधिक खर्चा लोगों को जेल में डालने और उनकी देख-रेख में करते हैं।

आज संयुक्त राज्य अमरीका में बेरोज़गारी दर बहुत ऊंची है। इसमें अगर हम उन लोगों को भी शामिल कर लें जो सलाखों के पीछे हैं और इसलिए काम नहीं ढूँढ पा रहे तो ये दर और भी ऊपर चली जाएगी खासकर युवा अश्वेतों के बीच और उनके बीच भी जिनके पास हाई-स्कूल डिप्लोमा भी नहीं है। अब समझ लीजिए की कितनी संख्या में लोग सलाखों के पीछे हैं और इन्हें सलाखों के पीछे रखने के लिए करदाताओं का कितना सारा पैसा खर्च हो रहा है। इसकी ज्यादा आधारभूत वजह मीडिया द्वारा पैदा किया गया हिस्टीरिया और समाज में व्यापक स्तर पर व्याप्त नस्लवाद है। पर इन सबके पीछे एक और कारक शामिल है वह है मुनाफा।

रिपोर्टों के अनुसार निजी जेल कम्पनियाँ बकायदे राज्य से यह गारन्टी मांगती हैं की उन्हें इतने कैदी दिए जाएँ की उनके जेल भरे रहें। आपको यह जानकार यह आश्चर्य होगा की ये बकायदे उनके अनुबंध का हिस्सा होता है। रिपोर्टों के अनुसार 65 प्रतिशत के लगभग अनुबंधों में यह शर्त होती है और कुछ प्रांतों में जैसे कि एरिज़ोना में राज्य की तरफ से पूरी, मतलब सौ प्रतिशत गारन्टी होती है की ये निजी जेल भरे रहेंगे। इससे कई जेलों में भीड़ हद से ज्यादा बढ़ जाती है और कभी-कभी केवल कोटा पूरा करने के लिए हिंसक अपराधियों को भी ऐसे जेलों में रखा जाता है जो मूलतः सामान्य किस्म के अपराधियों के लिए होते हैं। ऐसे में जब किसी निजी कंपनी की पूरी सीटें नहीं भरती तो इससे होने वाले नुकसान की भरपाई करदाताओं की जेब से होती है।

आज करीब 2,20,000 लोग निजी जेलों में कैद हैं। यानि प्रति 10 में से एक कैदी इन जेलों में कैद है और सभी राज्य यह सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं की उनके द्वारा तय करार के हिसाब से कोटा पूरा होता रहे। 2010 में ऐसी दो जेल कंपनियों ने 3 खरब के करीब मुनाफा कमाया था। ये सारी चीज़ें इतने स्तरों पर गलत हैं की मैं सब गिना भी नहीं सकता पर उनमें से एक स्तर ऐसी स्थितियों का भी है जब सरकारी अधिकारियों के निर्णय

उनके व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रभावित होते हैं (Conflict of Interests)। उदाहरण के लिए रिपोर्टों के द्वारा यह पता चला की दो जज ऐसी ही जेल कंपनियों के मालिकों से इसलिए भारी रिश्तत ले रहे थे ताकि वह नाबालिग अपराधियों को गैर-आनुपातिक और कड़ी सजा दें और इन कंपनियों के जेल ढेर सारे कैदियों और तदनुसार ढेर सारे मुफ्त श्रमिकों से भरे रहें। रिश्तत का पूरी रकम 2.6 करोड़ डॉलर के करीब थी। उन्नीसवीं सदी में प्रचलित ठीक अभियुक्तों को पट्टे पर लेने की व्यवस्था (कनविकट लीजिंग सिस्टम) की तरह फिर से बड़े बड़े निगम दासता के बंधन में बंधे ढेरों श्रमिकों का फ़ायदा उठा रहे हैं। रिपोर्टों के अनुसार आज यह जेल उद्योग देश की सेना के लिए यूनिफॉर्म, तरह तरह के बेल्ट, मिलिट्री हेलमेट, बैकपैक, पैंट, फ्लास्क इत्यादि का पूरा पूरा उत्पादन करता है। मिलिट्री साजो सामान के अलावा ये जेल 98 प्रतिशत बाज़ार में लगने वाले सामान, 46 प्रतिशत बुलेट प्रूफ जैकेट, 36 प्रतिशत घरेलू साजो सामान, 30 प्रतिशत हेडफोन, माइक्रोफोन, मेगाफोन, 21 प्रतिशत ऑफिस में लगने वाला फनीचर, एयरक्राफ़्ट, चिकित्सा का सामान और बहुत कुछ। विक्री पलेज़ के लेख में हम पढ़ते हैं की जेल उद्योग अमरीका का सबसे फल फूल रहे उद्योगों में से एक है और इसके निवेशक वॉल स्ट्रीट पर मौजूद हैं। बल्कि कई जेल तो वित्तीय रूप से आत्मनिर्भर हैं अतः उन्हें बंद कर देने का कोई आर्थिक दबाव नहीं है। इसके अलावा बड़े बड़े निगमों का हित भी इसी में है की ना केवल ये जेल बंद ना हों बल्कि लोगों से भरे भी रहें। अगर वे जेल के श्रम से इतनी भारी कमाई कर रहे हैं तो भला वे क्यों चाहेंगे की ये जेल बंद हो जाएँ। जैसे जैसे सुरक्षा और जेल का यह तंत्र और बड़ा और संपन्न होता जायेगा इसे सुधारना या इसमें बदलाव लाना और भी मुश्किल होता जाएगा। यहाँ एक और बात नोट करने लायक है की 1984 से जब से अमरीका का निजी जेलों का प्रयोग शुरू हुआ है तबसे और राष्ट्र भी इस तंत्र तो अपनाते जा रहे हैं। उदाहरण के लिए यूनाइटेड किंगडम, इज़राइल, स्वीडन, ब्राज़ील, ऑस्ट्रेलिया, और एस्टोनिया में भी ये परिपाटी अपनाई जा रही है। धीमे-धीमे यह हमारी व्यवस्था का कॉमन सेंस बनता जा रहा है।

कर्जदारों के जेलों की वापसी

अमरीकी सुप्रीम कोर्ट ने अपने तीन भिन्न निर्णयों में यह साफ़ कर दिया था की कर्जदारों के विशिष्ट जेल बनाना असंवैधानिक है। आपको किसी को कर्ज न चुका पाने की वजह से जेल में नहीं डाल सकते। यदि आप ऐसा करते हैं तो इसका मतलब आप अमीरों और गरीबों को सामान कानून के तहत रख कर नहीं देख रहे। पर सुप्रीम कोर्ट के इन निर्णयों के बावजूद छोटे और बड़े स्तर पर सभी कोर्ट इस बात को नज़रअंदाज़ करते रहे हैं। आये दिन जज लोगों को जेल में डाल देने के फैसले सुनाते हैं क्योंकि वे कर्ज नहीं चुका पाते। ये फैसले सुनाते वक्त लोगों की मजबूरियों का ध्यान तक नहीं रखा जाता। एस्थन ब्रॉन्नेर ने पिछले

हफ्ते टाइम्स में यह रिपोर्ट किया था की छोटे-मोटे उल्लंघन करने वाले लोग जो किसी वजह से अपना जुर्माना या फीस जमा नहीं कर पाते उन्हें भी जेलों में डाल दिया जाता है। साथ ही भारी अपराध करने की वजह से जेल में डाले गए लोग जैसे ही अपनी सजा पूरी करके बाहर निकलते हैं उन्हें दोबारा जेल में डाल दिया जाता है अगर वे कोई फीस या जुर्माना जमा नहीं कर पाते। ऐसा करते हुए यह ध्यान में नहीं रखा जाता की लॉक अप में रहते हुए वे भला जुर्माना या फीस भरने लायक पैसा कमा भी पाते तो कैसे।

फ़ेडरल सरकार ने और कई राज्यों ने ऐसे जेलों पर 1830 के आसपास प्रतिबन्ध लगा दिया था। पर आज एक तिहाई से ज्यादा अमरीकी राज्य गरीब लोगों को मामूली सा जुर्माना भी ना भर पाने पर जेल में डाल देते हैं। इन राज्यों में लोगों को जेल में डालने की दर सबसे ज्यादा है। जबसे वर्तमान आर्थिक संकट शुरू हुआ है स्थिति और भी अधिक बिगड़ गई है। ज्यादातर लोग आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे हैं पर सरकार कर्जदारों के प्रति और भी ज्यादा सख्त हो गई है। न्यूयॉर्क के 'ब्रेनर सेंटर ऑफ़ जस्टिस' ने एक और चौकाने वाला तथ्य प्रस्तुत किया है। कुछ राज्य तो बकायदे 'निर्धनता दण्ड' जैसे अजीबोगरीब नियम लागू करते हैं जब लोग एक बार में ब्याज़, लेट फीस, इत्यादि का भुगतान एक बार में नहीं कर पाते। जहाँ अलाबामा प्रान्त में ब्याज दर तीस प्रतिशत है वहीं फ्लोरिडा में ब्याज दर 40 प्रतिशत तक बढ़ा दी गई है। फ्लोरिडा के कुछ क्षेत्रों में तो बकायदे कलेक्शन कोर्ट स्थापित किये हैं। इन कोर्टों में उल्लंघन कर्ताओं को सीधे जेल में डाला जा सकता है और उन्हें पब्लिक डिफेंडर मिलने का अधिकार भी नहीं होता।

निवार्य बीमारियों की वापसी

खसरा, काली खांसी, गलसुआ, टीबी, पोलिओ जैसी बीमारियाँ एक समय संयुक्त राज्य अमरीका से पूरी तरह से खत्म हो चुकी थीं। यह उपलब्धि निजी क्षेत्र की वजह से नहीं बल्कि सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा जन स्वास्थ्य के सन्दर्भ में किये गए अथक प्रयासों से हासिल हुई थी। अब यह स्थिति है की हम इस उपलब्धि को हाथ से गँवा देने की स्थिति में आ गए हैं। मैसाचुसेट्स में ऐसे बच्चों का संख्या लगातार बढ़ती ही जा रही है जिन्हें टीके नहीं लगे हैं। यहाँ हम दक्षिणपंथी ताकतों के विज्ञान प्रति विचारधारात्मक आग्रहों और विभिन्न सरकारों की जन स्वास्थ्य पर खर्च कम करने की नीतियों का घातक मिश्रण देख सकते हैं। इस मिश्रण की वजह से हमारा राष्ट्र फिर से उन पुरानी और पिछले दौर की बीमारियों से हारता नज़र आ रहा है। 2003 में सारी दुनिया में करीब 5,30,000 लोग खसरे से मारे गए थे। इनमें से ज्यादातर बच्चे थे। अब ज़रा इस दुखदाई विकास पे थोड़ा ध्यान दें। सन 1963 में ऐसे टीके तैयार किये गए जिनमें खसरे से लड़ने की ताकत थी। जिस देश में सालाना चार करोड़ लोग इस बीमारी से जूझते हों और जहाँ सालाना 400-500 लोग इसकी वजह से जान

गँवा देते हों वहाँ ऐसे टीकों की ज़ाहिर तौर पर सख्त ज़रूरत थी। फिर सन 2000 में विशेषज्ञों के एक पैनल ने इस बीमारी के खाने का ऐलान किया। पर अब फिर से ऐसी स्थिति आ चुकी है की सन 2013 में जनवरी से लेकर अगस्त के बीच खसरे के 159 मामले सामने आ चुके हैं। पिछले दस सालों इतने मामले कभी देखने में नहीं आये थे।

कंपनियों के एकाधिकार की वापसी

कंपनियों का एकाधिकार केवल अर्थव्यवस्था के लिए ही नहीं लोकतंत्र के लिए भी बुरा होता है। सौ साल पहले अमरीका के इतिहास के प्रगतिशील दौर में ही इस बात को समझ लिया गया था तो फिर आज कैसे हम इस बात को भूलते ही जा रहे हैं! उस दौर में जनता ने सरकार को मजबूर किया था कि वो ऐसे बड़े-बड़े निगमों को तोड़ दे जो जनहित को नुकसान पहुंचा रहे हैं और व्यापार एवं प्रगति के लिए ज़रूरी प्रतियोगिता की राह में बाधा बन रहे हैं। पर आज एंटीट्रस्ट एनफोर्समेंट लाये जाने की मांग (निगमों को तोड़ने की मांग) ही जैसे ठंडी पड़ चुकी है। इसके साथ साथ मजदूर यूनियनों को नष्ट किया जा रहा है, जीवन-यापन का खर्च बढ़ता ही जा रहा है, और अर्थव्यवस्था बस जैसे तैसे रेंग रही है। अपने पाठकों को बता दूँ की अर्थशास्त्र के प्रमुख विचारकों में से एक एडम स्मिथ भी निगमों के एकाधिकार या एकाधिकारवादी निगमों के सख्त खिलाफ थे। उनकी सबसे चर्चित कृति 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' से लिए गए इस उद्धरण से यह साफ पता चलता है - 'ऐसा मेरा मानना है कि निगमों की मनचाही नीतियों की तुलना में राजस्व से जुड़े हमारे कानून बेहद उदार और लचीले हैं। कुछ व्यापारियों और उद्योगपतियों ने न्यायपालिका पर दबाव बनाकर अपना प्रभुत्व और एकाधिकार बढ़ाने के लिए जैसे कानून लागू करवाए हैं वे बेहद मूर्खतापूर्ण और जन-विरोधी हैं। ड्रेको के कानूनों की तरह ये कानून भी खून से लिखे हुए हैं।' निगमों को तोड़ने के ये कानून चौदहवीं सदी के इंग्लैंड में एडवर्ड तृतीय के समय से रहे हैं। यह बात एक स्थापित सत्य की तरह से स्वीकार्य रही है की, हर तरह के एकाधिकार की तरह औपनिवेशिक व्यापार में भी एकाधिकार पूरे आर्थिक तंत्र में खर्च बढ़ाता है और प्रतियोगिता को कम करता है। एडम स्मिथ के बाद से लगभग हर प्रमुख अर्थशास्त्री ने, चाहे डेविड रिकार्डो हों या जॉन मेनार्ड कीन्स, सभी ने एकाधिकार रोकने वाले कानूनों का समर्थन किया है। पर 1980 में मिल्टन फ्रीडमैन और एलन ग्रीन्सपैन के आते ही यह परिदृश्य बदल गया। फ्रीडमैन/ग्रीन्सपैन की मुक्त बाजार व्यवस्था में रुढ़िगत आस्था अब अपने नतीजे दिखा रही है। पर यह समझना कोई रॉकेट साइंस नहीं है की निगमों का एकाधिकार अर्थव्यवस्था के लिए बुरा होता है। केवल धुर दक्षिणपंथी ही इस सत्य से नज़रें फेर रहे हैं और यह समझने में नाकाम रहे हैं की यह अर्थव्यवस्था और लोकतंत्र दोनों के लिए कितना बुरा होगा। आज कोई भी सोचने समझने वाला व्यक्ति यह जान रहा है की अमरीका

का कॉर्पोरेट जगत किस तरह से केंद्रीकृत होता जा रहा है। एक दौर वह भी था, 1980 के दशक में, जब हम यह समझते थे की संचारतंत्र में एकाधिकार बुरी चीज़ है पर आज ज़रा 'एटी एंड टी' टेलीकम्युनिकेशन कंपनी का इस क्षेत्र में एकाधिकार देखिये। इन्हीं रुझानों के अनुरूप 'स्टैण्डर्ड ऑयल' कंपनी का भी पुनर्गठन किया जा चुका है। वहीं 'मोंसैंटो' ने बीजों के उत्पादन पर अपना एकाधिकार जमा लिया है। यह लिस्ट लगतार लम्बी ही होती जा रही है। पर सवाल यह उठता है की इस वित्तीय एकाधिकार के बारे में हम अखबारों में क्यों नहीं पढ़ते। मीडिया इन खबरों को क्यों नहीं छापता? इसे समझने के लिए हमें एक दूसरा ही वर्क खोलना होगा। देश के पंद्रह सौ दैनिक अखबारों में निन्यानवे प्रतिशत अपने अपने शहरों के अकेले दैनिक अखबार हैं। कुल 11,800 केबिल तंत्रों में कुछ को छोड़कर बाकियों का अपने शहरों पर एकाधिकार है। यूँ तो कहने को 11,000 व्यवसायिक रेडियो स्टेशन हैं जिनमें छह या आठ प्रारूपों में कार्यक्रम आते हैं, जैसे बातचीत, समाचार, रॉक संगीत, रैप म्यूज़िक, समसामयिक मुद्दे इत्यादि। पर इस प्रकट विविधता के बावजूद इन सभी प्रारूपों में एक ही जैसे कार्यक्रम आते हैं। सभी शहरों में एक ही जैसे कार्यक्रम चलते हैं। चार बड़े व्यावसायिक टीवी नेटवर्क और उनसे सम्बद्ध स्थानीय चैनल भी एक ही तरह के कार्यक्रम चलाते हैं। कुछ ही छोटे चैनल ऐसे हैं जो वाकई विकल्प प्रस्तुत करते हैं पर उनकी पहुँच बेहद सीमित है। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है की मीडिया स्वयं एकाधिकारी या एकाधिकारवादी निगमों के हाथों का खिलौना है। यह कहा जा सकता है की वॉल स्ट्रीट इन एकाधिकारवादी निगमों का अड्डा बन चुका है और ये मिलकर करदाताओं का खून चूस रहे हैं।

उच्चवर्गीय राजनीति वापसी

उच्चवर्गीय राजनीति के कई प्रमुख गुण होते हैं, 1) घोर भ्रष्टाचार, 2) निगमों का राज, 3) राजनीतिक दलों के बीच महत्वपूर्ण मुद्दों पर एकसमान उदासीनता होना इत्यादि। क्या यही सारी चीज़ें आज भी परिदृश्य पर नहीं हैं। एक और महत्वपूर्ण चरित्र को ध्यान में रखना चाहिए। वह है निगमों के बीच टुटपुंजिया लड़ाईयाँ। अपनी चर्चित पुस्तिका 'वॉर इस ए रैकेट' में मेजर जनरल स्मैडली बटलर ने इस बारे में विस्तार से लिखा है। सन 1898 से लेकर सन 1934 तक अमरीका ने बहुत सारी 'बनाना वार्स' (Banana Wars) कैरेबियन और दक्षिणी अमरीका में व्यापारिक दादागिरी स्थापित करने के लड़ी। अमरीका अपने दक्षिण में उन सारी सरकारों को दबाने के लिए जो वॉल स्ट्रीट पे स्थित बैंकों के कर्ज़ नहीं चुका पाती थीं, दबाने के लिए अपनी मरीन्स भेज दिया करता था। सन 1934 में जब वॉल स्ट्रीट का विनियमन किया गया तभी ये बनाना युद्ध समाप्त हुए। पर अब लगता है फिर से वह दौर वापस आ चुका है। वैसे तो हम

शेष पृष्ठ 11 पर

यह कैसा धर्मनिरपेक्ष भारत है?

■ डॉ. माधव गोडबोले

पूर्व केंद्रीय गृह सचिव

इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनेस्ट्रेशन, दिल्ली की महाराष्ट्र शाखा ने पूर्व केंद्रीय गृहसचिव डॉ. माधव गोडबोले को साल 2015-16 के बीजी देशमुख मेमोरियल लेक्चर देने बुलाया।

गोडबोले से कहा गया कि वे अपनी पसंद के विषय पर बोल सकते हैं। लेक्चर 4 अप्रैल को होना था। गोडबोले से उनका भाषण पहले भेजने को कहा गया ताकि लोगों को उपलब्ध कराया जा सके।

गोडबोले ने 11 मार्च, 2016 को 'क्या भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है?' मुद्दे पर भाषण भेजा। एक अप्रैल को उन्हें ईमेल के जरिए लेक्चर रद्द होने की सूचना दी गई। कोई वजह नहीं बताई गई।

गोडबोले की पहली प्रतिक्रिया तो यही रही है कि क्या हम आपातकाल के दिनों में आ गए हैं?

गोडबोले का मूल लेख तो काफी लंबा है। उसकी पूरी प्रस्तुति संभव नहीं पर बीबीसी हिंदी उसके कुछ हिस्से अपने पाठकों के सामने रख रहा है।

क्या भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है? मेरा मानना है कि ये सवाल पूछा जाना चाहिए, इसके असर को देखना चाहिए और इसका ईमानदारी से जवाब दिए जाने की ज़रूरत है।

व्यक्तिगत तौर पर मेरा धर्मनिरपेक्षता पर पूरा भरोसा है। बहुधार्मिकता, बहुनस्लीय, बहुसांस्कृतिक देश की तौर पर भारत का अस्तित्व इस पर निर्भर है कि यहाँ धर्मनिरपेक्षता कितनी कामयाब है?

मौजूदा समय में, भारत में धार्मिक तौर पर अल्पसंख्यकों की आबादी 20 फीसदी के आसपास है। इनमें मुसलमान 14.2 फीसद हैं।

कुछ अनुमानों के मुताबिक आने वाले समय में, यह 25 फीसदी के आसपास स्थिर हो सकता है। जिसमें मुस्लिमों की आबादी 20 फीसदी के करीब होगी।

कोई भी समाज अपने एक चौथाई आबादी की उपेक्षा कर, हक से वंचित करके और अवांछित मानकर न तो संपन्न बन सकता है और न ही शांति से रह सकता है।

भारत में बड़े पैमाने पर अल्पसंख्यकों और मुसलमानों के तुष्टिकरण की बहुत बातें होती हैं लेकिन जस्टिस सच्चर कमेटी की रिपोर्ट से मुसलमानों की आर्थिक सामाजिक स्थिति बहुत स्पष्टता से बताते हैं कि किस तरह से कुछ राजनीतिक पार्टियों की वोट बैंक समझे जाने वाला यह तबका इतने सालों से हाशिए पर है।

यह देखना भी दुखद है कि इस रिपोर्ट पर चर्चा के लिए संसद

के पास समय नहीं है। इतना ही नहीं जस्टिस रंगनाथ मिश्रा कमीशन रिपोर्ट की अनुशंसाओं पर भी विचार करने का समय संसद के पास नहीं है।

वास्तविकता में, ऐसे में धर्मनिरपेक्षता अपनी सारी विश्वसनीयता गंवा चुकी है।

हालांकि भारतीय संविधान दुनिया के सबसे धर्मनिरपेक्ष संविधान है हालांकि इसके निर्माताओं ने धर्मनिरपेक्षता शब्द को शामिल नहीं किया था। लेकिन आपातकाल के दौरान 1976 में संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्ष शब्द शामिल किया गया।

बहरहाल, पिछले कुछ समय में भारत की धर्मनिरपेक्षता को लेकर काफी सवाल उठ रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद पहली बार हिंदू राष्ट्र की विचारधारा पर इतने खुले तौर पर बात हो रही है।

हालांकि जवाहरलाल नेहरू ने 6 सितंबर, 1951 को ही हिंदू राष्ट्र पर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी- हिंदू राष्ट्र का केवल एक ही मतलब है, आधुनिक सोच को पीछे छोड़ना, संकीर्ण होकर पुराने तरीके से सोचना और भारत का टुकड़ों में बंटना।

बहरहाल, अगर सुप्रीम कोर्ट ने एसआर बोम्माई बनाम भारतीय गणराज्य (1994) मामले में स्पष्ट तौर पर धर्मनिरपेक्षता को भारतीय संविधान का मूलभूत बनावट का हिस्सा माना था और कहा था कि संसद को इसे कमतर करने का अधिकार नहीं है। हालांकि कुछ राजनीतिक पार्टियों ने इसके लिए लगातार कोशिशें जारी रखी हैं।

सुप्रीम कोर्ट ने हाल ही में इस बारे में कहा था, "भारत अब तक धर्मनिरपेक्ष देश है, लेकिन हम ये नहीं जानते हैं कि यह कितने लंबे समय तक धर्मनिरपेक्ष देश बना रहेगा।" (इंडियन एक्सप्रेस, 10 फरवरी, 2015)

भारतीय संविधान की कई धाराओं से धर्मनिरपेक्षता का भाव जाहिर होता है। मसलन धारा 14 के तहत कानून की नज़र में एकसमान होना, धारा 15 के तहत धर्म, जाति, नस्ल, लिंग और जन्म स्थल के आधार पर भेदभाव पर पाबंदी, धारा 16 के तहत सार्वजनिक रोजगार के क्षेत्र में सबको एक समान मौके मुहैया करना जैसी तमाम धाराएं शामिल हैं।

बावजूद इसके समाज के अंदर की स्थिति काफी निराश करने वाली है। न तो बहुसंख्यक आबादी और न ही अल्पसंख्यक समुदाय पूरी तरह से धर्मनिरपेक्षता के मसले को समझ पाई है। धर्मनिरपेक्षता एक समुदाय के लोगों को दूसरे समुदाय के लोगों के साथ जोड़ने के बदले समुदायों को अलग कर रहा है।

यह कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में नाकाम होने की वजह से भी है। इसमें हिंदुओं की सबसे बड़ी शिकायत यही है कि ज्यादातर नियम, क़ानून, पाबंदियां सब उनकी धार्मिक मान्यताओं और संस्थाओं पर ही हैं।

इसके अलावा समान नागरिक संहिता (यूनिफॉर्म सिविल कोड) का लागू न होना, इस्लामी महिलाओं के लिए अलग तलाक़ क़ानून, खासकर आदिवासी इलाकों में और गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वालों का मुस्लिमों और ईसाइयों द्वारा बड़े पैमाने पर धर्मांतरण कराना और अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थानों को संरक्षण देना भी शामिल है।

इसके अलावा भी देश में काफी ऐसी घटनाएं हुई हैं जो संदेह पैदा करती हैं कि ये कैसा धर्मनिरपेक्ष भारत है। एक तो भारत में राजनीति को धर्म से अलग करके नहीं देखा जाता है। इसके अलावा बाबरी मस्जिद को गिराना, 1984 में दिल्ली और दूसरे शहरों में हुए सिख विरोधी दंगे, दिसंबर, 1992 और जनवरी, 1993 में मुंबई में हुए भयानक दंगे, 2002 में गुजरात के गोधरा और अन्य शहरों में हुए दंगे देश में सांप्रदायिक भेदभाव और हिंसा की घटनाओं को बढ़ावा देते रहे हैं।

1954 से 1985 के बीच देश भर में करीब 8,449 सांप्रदायिक दंगे हुए हैं जिनमें 7,229 लोगों की मौत हुई है और 47,321 लोग घायल हुए हैं। हालात यहां तक बिगड़े हैं कि गोहत्या के नाम पर लोग क्या खाएं, इसकी आज़ादी भी उनसे छिन गई है, वे कौन सा पेशा अपनाएं या क्या कारोबार करें, इसकी भी आज़ादी छिनी है।

जहां तक यूनिफॉर्म सिविल कोड की बात है, तो संविधान सभा की बैठकों में वल्लभ भाई पटेल, जवाहर लाल नेहरू और अन्य दूसरे नेताओं के संबोधन से उपरी तौर पर यही ज़ाहिर होता है कि मुस्लिम नेता इस सिविल कोड को मानने के लिए तैयार थे, लेकिन अगर उनके संबोधनों को गंभीरता से देखा जाए तो ये साफ़ हो जाता है कि सभी मुस्लिम नेताओं, बिना किसी अपवाद के, ने यूनिफॉर्म सिविल कोड का विरोध किया था।

इन लोगों ने इसे संविधान से हटवाया। इसके बाद से आज

तक मुस्लिमों की स्थिति नहीं बदली। ये भी साफ़ है कि भारतीय जनता पार्टी सहित सभी राजनीतिक दल संसद में इस बिल को पारित नहीं करना चाहता।

उस वक्त में संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद सहित कई दूसरे नेताओं ने भी हिंदू क़ानून में सुधार को सही नहीं बताया था लेकिन जवाहरलाल नेहरू ने साहस करते हुए उसे लागू किया, हालांकि वे भी यूनिफॉर्म सिविल कोड को लागू करने का साहस नहीं दिखा पाए।

अगर उस वक्त में मुस्लिम क़ानूनों में सुधार को मंजूरी मिल जाती तो देश की सामाजिक और धार्मिक तस्वीर काफी अलग होती।

वैसे, बाबरी मस्जिद के विध्वंस ने भी भारत में धर्मनिरपेक्षता के अस्तित्व पर गंभीर सवाल उठाए थे। उस वक्त देश के प्रधानमंत्री रहे पीवी नरसिम्हाराव ने अपनी किताब अयोध्या 6 दिसंबर, 1992 में दावा किया है कि संविधान की पाबंदियों के चलते वे कोई कार्रवाई नहीं कर सके और उन्होंने ये भी कहा कि कांग्रेस पार्टी ने उन्हें बलि का बकरा बनाया।

इतिहास में यह अपनी तरह का इकलौता उदाहरण है जहां देश का प्रधानमंत्री खुद को बलि का बकरा बता रहा हो। नहीं तो चलन तो यही रहा है कि प्रधानमंत्री अपनी हर नाकामी के लिए बलि का बकरा तलाशते रहे हैं।

प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव ने 6 दिसंबर, 1992 की घटना के तुरंत बाद मस्जिद को बनाने का भरोसा दिया था, ये अब तक कागज़ों में ही है। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने राष्ट्रीय एकता परिषद, भारत सरकार और सुप्रीम कोर्ट को बाबरी मस्जिद की सुरक्षा का भरोसा दिया था। अदालत की आदेश की अवमानना के चलते कल्याण सिंह पर महज 2000 रुपये का जुर्माना हुआ था।

इस मामले की जांच करने के लिए बनी जस्टिस एम. लिब्रहान ने 17 साल तक इस मामले की जांच की और किसी को दोषी नहीं पाया।

साभार : bbc.com/hindi

उन्नीसवीं सदी की वापसी

पृष्ठ 9 का शेष

ऐसे कई युद्ध गिना सकते हैं जैसे लीबिया, यमन इत्यादि पर ज़रा इराक का उदाहरण ही लें। इस बात का खुलासा हो चुका है की इराक पर युद्ध करने की योजना बनाने में तेल कम्पनियां भी बढ़-चढ़ के शामिल थीं और यह भी साबित हो चुका है की इस लड़ाई की असल विजेता भी यही कंपनियां ही थीं। 2003 में इराक़ पर आक्रमण के पहले इराक़ का तेल उद्योग पूरी तरह से राष्ट्रीयकृत था पर अब युद्ध के लगभग एक दशक बाद इसका पूरा निजीकरण हो चुका है और अब इस पर विदेशी कंपनियों का पूरा कब्ज़ा है। प्रमाण स्वरूप ज़रा इन उद्धरणों को देखिये :

लोग कहते हैं हमारी लड़ाई तेल के लिए नहीं है। पर यकीनन हमारी लड़ाई इसीलिए है। वे समझते हैं की यह लड़ाई हमारे राष्ट्रीय हितों के लिए है। लगता है वे किसी भुलावे में जी रहे हैं। हम यहाँ तिनके बटोरने नहीं आये। - चक हेजेल

यकीनन यह लड़ाई तेल के लिए है, और नहीं तो क्या! हम इस बात को झुठला नहीं सकते - फोर स्टार जनरल जॉन अबीज़ाइद

इस तरह यह तमाम वर्णित तथ्य और आकलन यह साबित करते हैं की हम वापस उन्नीसवीं सदी में पहुँच चुके हैं।

अनुवाद : सौम्य मालवीय

पाकिस्तान के एक पिता की तरफ से भारत को थैंक्यू नोट

दुश्मन देशों की अवाामी दोस्ती की एक नज़ीर

■ मानवी काटोच

नन्हीं अबीहा ने अपनी आखरी साँसें भारत में गिनीं। पर फिर भी उनके पिता के मन में अपने भारतीय मेज़बानों के प्रति केवल आभार और प्रशंसा ही हैं। वे भारतीय डॉक्टरों और उनकी बेटी की सेवा में लगे मेडिकल स्टाफ और यहाँ तक की भारतीय सेना के भी तहे दिल से शुक्रगुज़ार हैं।

लकीरें हैं.... तो रहने दो,
किसी ने रूठ कर,
गुस्से में शायद खेंच दी थीं
इन्हीं को अब बनाओ पाला,
और आओ कबड्डी खेलते हैं,
लकीरें हैं....तो रहने दो

-गुलज़ार

गुलज़ार की इन पंक्तियों का सही मतलब शायद तेरह साल की नालैन रुबाब इमरान, या जिन्हें प्यार से अबीहा कहा जाता था, उन्होंने ज़रूर समझा होगा। शायद इसीलिए ये नन्ही परी भारत और पाकिस्तान के बीच नफ़रत का प्रतीक बन गई एलओसी को पार कर पाकिस्तान से भारत आई और अपने पीछे मुहब्बत का अमूल्य सन्देश छोड़ गई। उसके पिता श्री हामिद इमरान ने पाकिस्तानी अखबार डॉन में धन्यवाद ज्ञापन करते हुए एक नोट लिखा है। वे लिखते हैं, 'ना तो मैं अपनी बेटी की आकस्मिक मृत्यु के दर्द को भूल सकता हूँ और ना उस प्यार को जो हमें भारत में मिला।' अबीहा पाकिस्तान में चकवाल की रहने वाली थीं। 2011 में जब उनके पिता सऊदी अरब में कार्यरत थे तो यहीं उसका यकृत प्रतिरोपण किया गया था। पर इस साल डॉक्टरों ने एक और प्रतिरोपण करवाने की सलाह दी। चूँकि पाकिस्तान में इस प्रतिरोपण का खर्च पांच करोड़ के करीब बैठता इसलिए इमरान ने तय किया की वे यह इलाज दिल्ली के अपोलो अस्पताल में कराएँगे।

पर यह किसी भी सूरत में आसान नहीं होने वाला था। अबीहा की माँ श्रीमती सजदा इमरान गर्भवती थीं और उन्हें भी चिकित्सीय देखरेख की ज़रूरत थी। दूसरी बात यह की इस बड़े और अजनबी मुल्क में, जिसे वे अब तक एक दुश्मन देश के तौर पर देखते आये थे, वे किसी को भी नहीं जानते थे। इमरान ने चकवाल के राजकीय हाई स्कूल से स्नातक की परीक्षा पास की थी। यह महाविद्यालय

सरदार चेत सिंह कोहली ने सन 1910 में बनवाया था। भारत और पाकिस्तान के बंटवारे से पहले सरदार चेत सिंह कोहली चकवाल पाकिस्तान में रहते थे। उनके नेक काम आज भी चकवाल के लोगों की स्मृति में दर्ज़ हैं और वे आज भी उन्हें बड़ी शिद्दत से याद करते हैं। उन्होंने विभाजन के बाद दिल्ली आने से पहले चकवाल में स्कूल और अस्पताल बनवाए थे। संयोग से सरदार चेत सिंह कोहली के पोते श्री रत्न दीप सिंह कोहली हाई स्कूल के सौंवे स्थापना दिवस के मौके पर स्कूल आये थे। वे आज भी इस यात्रा के दौरान चकवाल के लोगों के द्वारा मिले प्यार और सम्मान को बहुत आत्मीयता और स्नेह से याद करते हैं। वे याद करते हुए कहते हैं, 'मैं 2010 में स्कूल की सौंवी वर्षगांठ पर और उसके बाद 2012 में चकवाल गया था। इन दोनों ही यात्राओं में चकवाल के लोगों के द्वारा और स्कूल के बच्चों के द्वारा मिले प्यार और सम्मान ने हमें अभिभूत कर दिया था। हम उस अनुभव को शब्दों में बयाँ नहीं कर सकते उसे केवल महसूस ही किया जा सकता है। मेरी पत्नी इस बात से बेहद भावुक थीं की चकवाल के लोग उन्हें बहु कह कर बुला रहे थे और किस तरह हमारे पुरखों के प्रति सम्मान, प्रशंसा, और कृतज्ञता से भरे हुए थे। पाकिस्तान के अखबार 'द न्यूज़' और 'अमन की आशा' हमारी यात्रा को लेकर लिखे गए बेहद सुन्दर और आत्मीय लेखों से भरे हुए थे।'

इसी स्कूल के एक पुराने छात्र ने इमरान को भारत में रह रहे कोहली का पता ठिकाना उपलब्ध कराया। जब इमरान अपनी पत्नी, अबीहा, और एक डोनर मंजूर हुसैन के साथ कोहली के घर पहुंचे तो उन्होंने अपनी पत्नी परमजीत कौर के साथ उनका बेहद गर्मजोशी के साथ स्वागत किया। कोहली बताते हैं, 'जब हामिद अबीहा को लेकर भारत ऑपरेशन करवाने के लिए आये तब हम एक दूसरे से परिचित नहीं थे। वे स्कूल के एक पुराने छात्र, जिनसे मैं पाकिस्तान यात्रा के दौरान मिला था, का सन्दर्भ लेकर मुझसे मिलने आये थे। जिस क्षण हम मिले उसके बाद अबीहा की मेरी पत्नी परमजीत से गहरी दोस्ती हो गई थी। जब मेरी पत्नी ने अबीहा के पसंद का खाना पकाने का प्रस्ताव रखा तो वो और उसका परिवार रोमांचित हो उठे थे क्योंकि अबीहा को अस्पताल का खाना बेहद उबाऊ और अरुचिकर लग रहा था। इस तरह मेरी पत्नी ने उसके और उसके परिवार के लिए मनपसंद खाना बनाना शुरू कर दिया। नॉन-वेज खाने के लिए मैं मांस का पूरा ध्यान रखकर मुसलमान दुकानदारों से ही खरीदा

करता था। ऐसा इसलिए क्योंकि मैं जानता था की मुसलमान केवल हलाल किया हुआ मांस ही खाते हैं। जब मैंने हामिद को बताया की यह हलाल किया हुआ मांस है तो वे पंजाबी में मुझसे बोले, 'भाई जान, सड़े वास्ते तुहाड़े घर दी हर शै हक हलाल है।' मुझे और मेरी पत्नी को उनके इन शब्दों ने भीतर तक छू लिया था।'

16 मार्च 2015 को अबीहा का ऑपरेशन किया गया और यह ऑपरेशन सफल रहा। इसके बाद मोहतरमा सजदा इमरान को अपनी सेहत देखते हुए पाकिस्तान वापस जाना पड़ा था। पर वे पूरी तरह से निश्चिंत होकर पाकिस्तान वापस गईं क्योंकि वे जानती थीं की परमजीत अबीहा का ख्याल अपनी बेटी की तरह रखेंगी। पर आने वाले कुछ दिन थोड़े चिंताजनक गुज़रे। अबीहा की सेहत बिगड़ने लगी थी। पर परमजीत उसके साथ हमेशा रहीं। अबीहा के लिए तो परमजीत दूसरी माँ की तरह थीं। वे केवल अबीहा के लिए ही खाना पकाकर नहीं ले जाती थीं बल्कि अस्पताल में भती अन्य पाकिस्तानियों को भी उनके हाथ का स्वाद और प्यार मिलता था। कोहली परिवार ने कुछ पाकिस्तानियों को घर भी आमंत्रित किया और उन्हें उनका मनपसंद पंजाबी खाना खिलाया। परमजीत ने रोज़ अस्पताल में समय बिताने का निर्णय लिया और वे रोज़ तीन से चार घंटे अस्पताल में बिताती थीं। इमरान बताते हैं की, 'कोहली साहब, उनकी पत्नी परमजीत कौर और उनके बेटे गुरजप सिंह कोहली दिन में तीन दफे हमसे मिलने आते थे। श्रीमती परमजीत हमारे लिए खास पकवान पकाती थीं। उनकी वजह से हमें दिल्ली में कोई दिक्कत पेश नहीं आई।'

पर सात मई 2015 को अबीहा मौत से अपनी लड़ाई हार गई। परमजीत कहती हैं, 'वो हमेशा कहती थी की वो भारत से बहुत प्यार करती है। वो इस अस्पताल और यहाँ के डॉक्टरों से भी बेहद प्यार करती थी। वो कहती थी की जब वो ठीक हो जायेगी तो एक डॉक्टर बनेगी और इसी अस्पताल में काम करेगी। मुझे उसकी कमी बहुत खलती है।' इमरान ने अस्पताल में 21 दिनों का ट्रीटमेंट पैकेज लिया था। अपोलो अस्पताल ने अबीहा की मौत के बाद बचा हुआ पैसा माफ़ कर दिया था। इमरान भारतीय सेना की भूमिका को भी बेहद भावभीने मन से याद करते हैं। वे भूल नहीं पाते की अबीहा के शरीर को वापस पाकिस्तान ले जाते वक्त सीमा पर भारतीय सेना ने कैसे अपनी मानवीयता का परिचय दिया था। वे याद करते हैं, 'जब हमारी एम्बुलेंस सीमा पर रुकी तो एक सैनिक भागता हुआ आया और उसने अबीहा के शरीर पर एक हरी चादर डाल दी ताकि उसे जला देने वाली गर्मी से बचाया जा सके।' हालाँकि हामिद हिन्दुस्तान से आँखों में आंसू लेकर गए पर वे कहते हैं की वे रत्न दीप सिंह और उनके परिवार की मेहमाननवाज़ी, गर्मजोशी और इंसानी ज़ुबे को कभी भूल नहीं पाएंगे। श्री कोहली भी मानते हैं कि, 'भले ही विभाजन ने हमें

बाँट दिया हो और हमें हमारे जन्मस्थानों को छोड़ने पर मजबूर कर दिया हो पर आज छियासठ सालों बाद भी लोगों के बीच का प्यार ज़रा भी कम नहीं हुआ है। एक दिन आएगा जब लोगों की मोहब्बत राजनीति पर भारी पड़ेगी और दोनों मुल्कों को करीब ले आएगी।' इमरान आगे कहते हैं, 'मैं अपनी नियति स्वीकार करता हूँ। एक पिता के तौर पर जो भी मैं कर सकता था मैंने किया। मेरे पास जो भी संसाधन थे, मैंने अपनी बेटी के लिए लगा दिए। एक मुसलमान होने के नाते मैं अल्लाह की मर्ज़ी स्वीकार करता हूँ।' इमरान के पास मानो भारत के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए शब्द कम पड़ रहे थे। वे कहते हैं, 'मैं चाहता हूँ की लोग जानें की सामान्य भारतीय कैसे होते हैं। केवल कोहली भाईजान ही नहीं, अपोलो अस्पताल के डॉक्टर, नर्स, जिन्होंने अपनी पूरी कोशिश की मेरी बेटी बच जाए, डॉ. सुभाष गुप्ता, डॉ सिब्ल, और अन्य सभी बहुत अद्भुत लोग थे।' उन्होंने यह भी कहा की, 'मैं चाहता हूँ की लोग यह भी जानें की सीमा के आर-पार लोगों को राजनीति से कोई विशेष मतलब नहीं है। लोगों को जोड़ने वाले तार कहीं गहरे और मजबूत हैं।' अबीहा की डायरी कोहली परिवार के प्रति और अपोलो अस्पताल के डॉक्टरों के प्रति थैंक यू नोट्स से भरी हुई है। जन्मत के लिए कूच करने से पहले इस नन्हीं परी ने लिखा था, 'आई लव इंडिया।' नीचे हम उसकी डायरी का एक पेज दे रहे हैं।

मेरी बीमारी

मेरा नाम अबीहा फातिमा है। मैं तेरह साल की हूँ। मेरा लिवर ट्रांसप्लांट हो चुका है। मेरा ऑपरेशन पहले भी हुआ था पर वह सफल नहीं हुआ। अब मैं भारत नई दिल्ली इंद्रप्रस्थ अपोलो अस्पताल में ऑपरेशन करवाने जा रही हूँ। जब मेरा ऑपरेशन सऊदी अरब में हुआ था तो मैं बहुत डरी हुई थी। पर अब मैं डरी हुई नहीं हूँ क्योंकि मैं जानती हूँ की मैं अच्छे हाथों में हूँ। मुझे पता है की हम सही जगह पर इलाज करवाने आये हैं। मुझे यहाँ के डॉक्टर और नर्स बहुत पसंद हैं। वे बहुत अच्छे और मददगार लोग हैं। वे मेरी जान बचाने की जी तोड़ कोशिश कर रहे हैं और हमारी बहुत मदद कर रहे हैं। मुझे पता है की जब मैं ठीक हो जाऊंगी तो खेल पाऊँगी, दौड़ पाऊँगी और अपने भाई के साथ स्कूल जा पाऊँगी। मैं अपने डॉक्टरों का शुक्रिया अदा करना चाहती हूँ। वे बहुत बहुत अच्छे हैं, खासकर डॉ. सुभाष गुप्ता, डॉ. अनुपम सिब्ल, डॉ. सुमिता, और डॉ. हुमा। मैं आप सबको बहुत प्यार करती हूँ।

इमरान अपनी बात खत्म करते हैं, 'शायद मेरी बेटी को अपनी आखिरी सांस भारत में ही लेनी थी।' अल्लाह नन्हीं अबीहा की आत्मा को शांति दे।

जिसने उम्मीद के बीज बोये

■ ज्यों गिओनो

किसी आदमी की इंसानियत का सही अंदाज़ लगाने के लिए उसे एक लंबे असें तक जाँचना-परखना जरूरी है। अगर कोई फल की इच्छा करे बगैर दूसरों की भलाई में लगा हो तो उससे अच्छा और क्या हो सकता है। जिस इंसान की कहानी मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ उसने तो अपनी मेहनत और लगन से इस धरती की तस्वीर ही बदल डाली। बात दरअसल काफी पुरानी है। आज से करीब चालीस साल पहले मैं फौज़ में भती हुआ था। साल भर की ट्रेनिंग के बाद मुझे पंद्रह दिन की छुट्टी मिली थी। छुट्टी में घर जाने के बजाए मैंने घुमकड़ी की सोची। अपने फौज़ी थैले में कुछ खाने का सामान और पानी की बोतल रख कर मैं सैर को निकल पड़ा। जिस इलाके से मैं गुजर रहा था उसे मैं पहले से नहीं जानता था। जमीन एकदम बंजर थी। कहीं-कहीं पीले धतूरे की कंटीली झाड़ियाँ थीं। बाकी जगह सूखी घास के अलावा और कुछ नहीं उग रहा था। मुझे अब इस इलाके में चलते-चलते दो दिन हो गए थे। यह इलाका काफी वीरान था और माहौल में भी एक सन्नाटा छाया हुआ था। जहाँ मैं अब खड़ा था वहाँ शायद कभी गाँव रहा होगा। एक झुरमुटे में छह-सात मकान थे जो अब खंडहर में बदल गए थे। इन्हें देखकर मुझे लगा कि आसपास कोई कुआँ या पानी का सोता ज़रूर होगा। थोड़ा दूँढने पर एक नाला दिखाई भी दिया। पर वह भी अब सूख गया था। मैंने वहीं पर कुछ देर आराम करने की सोची। मेरा पानी खत्म हो गया था और प्यास से मेरा गला चटख रहा था। गाँव के एक कोने में एक टूटा मंदिर भी दिखाई दिया। पर वहाँ अब कोई नहीं रहता था।

जून का महीना था। सूरज की गर्मी से ज़मीन तप रही थी। तेज़ हवा के झोंके धूल के बवंडर उड़ा रहे थे। इस उदासी भरे माहौल को मैं ज्यादा देर बर्दाश्त नहीं कर सका। मैंने एक संकरी पगडंडी पकड़ी और आगे बढ़ा।

पांच घंटे चलते रहने के बाद भी मुझे कहीं भी पानी नहीं मिला। अब तो मैं पानी की उम्मीद भी खो बैठा था। मेरे चारों तरफ सूखी मिट्टी में उगी कंटीली झाड़ियों के अलावा और कुछ भी न था। इस सन्नाटे में मुझे दूर एक काली परछाईं सी दिखाई दी। मुझे दूर से वह पेड़ जैसा लगा और मैं उस ओर चल पड़ा। पास पहुँचने पर वह एक गड़रिया निकला। उसके आसपास तपती ज़मीन पर तीस भेड़े बैठी थीं।

उसने लौकी की तुम्बी में से मुझे पानी पिलाया और कुछ देर बाद वह मुझे अपने घर ले गया। वह एक गहरे प्राकृतिक कुएँ में से पानी खींचता था। इतनी गहराई से पानी खींचने के लिए उसने घिरनियों और रस्सियों की एक जुगाड़ बनाई थी।

वह आदमी बहुत कम बोलता था। ऐसा शायद इसलिए था

क्योंकि वह एकदम अकेला रहता था और उसके साथ बोलने वाला कोई नहीं था। पर उसके आत्मविश्वास को देखकर ऐसा लगता था जैसे वह अपने काम में मुस्तैद हो। इस सुनसान बंजर इलाके में मुझे उससे मिलने की कोई उम्मीद न थी। वो बकायदा एक पक्के मकान में रहता था, जिसे उसने आसपास के पत्थरों से खुद बनाया था। घर की छत मज़बूत थी। छत से हवा टकरा कर सांय-सांय कर रही थी।

घर में सभी चीजें कायदे-करीने से रखी थीं। बर्तन मंझे-धुले थे और फर्श साफ-सुथरा था। एक कोने में धारदार कुल्हाड़ी रखी थी। चूल्हे की धीमी आग पर पतीली चढ़ी थी जिसमें खिचड़ी पक रही थी। उसने इतनी मुस्तैदी से अपने कोट पर पैबन्द लगाया था कि वह नज़र ही नहीं आता था। उसने खिचड़ी मुझे भी खिलाई। खाने के बाद मैंने सिगरेट जलाई और एक उसे भी दी। उसने कहा कि वह सिगरेट नहीं पीता। उसका एक झबरीला कुत्ता था। पर वह भी अपने मालिक की तरह ही चुपचाप रहता था।

पहली मुलाकात के बाद ही मुझे ऐसा लगा जैसे रात को ठहरने की मंजूरी उसने मुझे दे दी हो। क्योंकि अगला गाँव करीब डेढ़ दिन की दूरी पर था, इसलिए यही अच्छा था कि मैं अपने थके पैरों को कुछ सुस्ता लेने दूँ। इस पहाड़ी इलाके में दूर-दराज़ पर कई छोटी-छोटी बस्तियाँ थीं। बस्तियाँ आपस में कच्ची सड़कों से जुड़ी थीं। इन बस्तियों में रहने वाले लोग लकड़ी से कोयला बनाने का धंधा करते थे। कोयले के धंधे की वजह से आसपास के सभी पेड़ कट चुके थे। बेरहम हवा को रोकने-टोकने वाला कोई पेड़ नहीं बचा था। टीलों पर हरदम धूल भरी आंधी नाचा करती थी। कोयले के धंधे में कोई ज्यादा फायदा नहीं था। कोयले को गाड़ी से शहर तक ले जाते हुए दो दिन लग जाते थे। बदले में दलाल जो पैसा देते थे उससे मुश्किल से खर्च निकल पाता था। कर्ज़, बीमारी और बंजर ज़मीन के कारण कोयले का धंधा करने वाले परिवार भी तिल-तिल कर के मर रहे थे।

खाने के बाद गड़रिए ने एक छोटा थैला उठाया और उसके सारे बीज मेज़ पर उड़ेल दिए। फिर वह बहुत ध्यान से उनकी जाँच-परख करने लगा। वह एक-एक बीज को उठाता, उसे गौर से देखता और बाद में उनमें से अच्छे बीजों को एक तरफ छॉट कर रख देता। मैंने सिगरेट का एक कश खींचा और सोचा कि मैं बीज छंटाई के काम में गड़रिए की कुछ मदद करूँ। परन्तु उसने कहा कि यह काम वह खुद ही करेगा और जिस लगन और एकाग्रता के साथ वह अपना काम कर रहा था उसे देख कर मुझे अपनी यह दखलंदाज़ी ठीक भी नहीं लगी। हम लोगों के बीच कुल मिलाकर इतनी थोड़ी ही बातचीत हुई थी। बीजों को छॉटने के बाद वह

उसमें से अच्छे बीजों की दस-दस की ढेरी बनाने लगा। ढेरी बनाते वक्त वह बीजों का बहुत बारीकी से मुआयना करता। उनमें से थोड़े भी दागी या चटखे हुए बीजों को वह अलग रख देता। इस तरह से उसने सौ अच्छे बीज छाँटे, उनको एक थैली में भरा और सोने चला गया।

न जाने क्यों इस इंसान के साथ मुझे बड़ी शांति का अहसास हो रहा था। अगले दिन सुबह मैंने उससे पूछा कि क्या मैं उसके यहाँ एक दिन और आराम कर सकता हूँ। उसने सहज ही इसकी इज़ाजत दे दी। उसके बाद वह दुबारा अपने काम में व्यस्त हो गया। अब आगे और कुछ बातचीत की आवश्यकता भी नहीं थी। पर मेरे अंदर कौतूहल जाग रहा था और मैं उस गड़रिए की जीवन-गाथा जानने को उत्सुक था।

सबसे पहले उसने उन छंटे हुए बीजों को एक पानी के बर्तन में भिगो दिया। फिर उसने भेड़ों की बाड़ खोली और उन्हें चरागाह की ओर ले चला। मैंने देखा कि गड़रिए के हाथ में लकड़ी के बजाए एक पांच फुट लंबी लोहे की छड़ थी। छड़ मेरे अंगूठे जितनी मोटी होगी। मैं भी चुपके चुपके गड़रिए के पीछे हो लिया। भेड़ों का चारागाह नीचे घाटी में था। थोड़ी देर पश्चात भेड़ों को अपने झबरीले कुते की देखरेख में छोड़कर वह खुद, धीरे-धीरे पहाड़ी पर मेरी ओर बढ़ा। मुझे लगा कि वह मेरी इस दखलंदाजी पर बौखलायेगा। परंतु उसने ऐसा कुछ नहीं किया। वह अपने रास्ते चला और क्योंकि मेरे पास और कुछ करने को नहीं था इसलिए मैं भी उसके पीछे-पीछे हो लिया। वह लगभग सौ गज़ की दूरी पर एक टीले पर चढ़ा।

वहाँ पर उसने लोहे की छड़ से मिट्टी को खोदकर एक गड्ढा बनाया। इसमें उसने एक बीज बोया और फिर गड्ढे को मिट्टी से भर दिया। वह देशज पेड़ों के बीज बो रहा था। मैंने उससे पूछा कि क्या वह ज़मीन उसकी अपनी जायदाद है। उसे यह भी नहीं मालूम था कि वह ज़मीन किसकी है। शायद वह गाँव की सामूहिक ज़मीन हो, या फिर कुछ ऐसे रईसों की जिन्हें इस ज़मीन की कुछ परवाह ही न हो। ज़मीन का मालिक कौन है। यह जानने में उसकी कोई रुचि न थी। उसने उन सौ बीजों को बहुत प्यार और मुहब्बत के साथ बो दिया।

दोपहर के खाने के बाद वह बीज बोने के अपने काम में दुबारा व्यस्त हो गया। मैंने शायद अपना सवाल बार-बार दोहराया होगा, क्योंकि अंत में मुझे उसके बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी ज़रूर मिली। पिछले तीन बरस से वह उस बियाबान इलाके में पेड़ों के बीज बो रहा था। वह अभी तक एक लाख बीज बो चुका था। इन एक लाख बीजों में से केवल बीस हजार ही पौधे निकले थे। उसे लगता था कि इन बीस हजार में से आधे ही जिंदा बचेंगे। आधे या तो किसी प्राकृतिक आपदा का शिकार होंगे या फिर उन्हें चूहे कुतर जायेंगे। पर जहाँ पहले कुछ भी नहीं था वहाँ अब कम-से-कम दस हजार पेड़ तो उग रहे हैं।

यह सब सुनने के बाद मैं उस इंसान की उम्र के बारे में अटकलें लगाने लगा। वह निश्चित रूप से पचास वर्ष से ऊपर का होगा। उसने मुझे खुद बताया कि वह पचपन साल का है। एक समय तराई के निचले क्षेत्र में उसकी खेती-बाड़ी थी। पर अचानक उसके इकलौते लड़के और फिर पत्नी की मृत्यु हो गई। इससे उसको गहरा सदमा पहुँचा। तभी से एकांतवास के लिए वह अपने कुते और भेड़ों के साथ यहाँ चला आया। उसका मानना था कि पेड़ों के बगैर जमीन धीरे-धीरे मर रही है। क्योंकि उसके ज़िम्मे और कोई ज़रूरी काम नहीं था इसलिए उसने ज़मीन की इस खराब हालत को सुधारने की ठानी।

क्योंकि उस समय मैं नौजवान था और सैर सपाटे के लिए एक वीरान इलाके में निकला था, इसलिए मैं उसका मर्म कुछ समझ पाया। मैं उस समय नादान था और एक अच्छे खुशहाल भविष्य की राह तलाश रहा था। मैंने उससे कहा कि अगले तीस बरसों में उसके लगाए गए यह दस हजार पेड़ एक घने और सुंदर जंगल का रूप ले लेंगे। उसने मेरे प्रश्न के उत्तर में एक सरल सा जवाब दिया। उसने कहा कि अगर भगवान ने उसे लम्बी उम्र बख्शी तो वह अगले तीस सालों में इतने ज्यादा पेड़ लगायेगा कि यह दस हजार पेड़ तो समुद्र की एक बूंद जितने नज़र आयेंगे।

इसके अलावा वह कुछ फलदार पेड़ों के बीजों के अंकुरण के बारे में भी प्रयोग कर रहा था। इसके लिए उसने अपने घर के बाहर ही एक पौधशाला बनाई थी। कुछ पौधों को उसने कंटीली तार लगाकर भेड़ों से सुरक्षित रखा था। यह पौधे बहुत अच्छी तरह बढ़ रहे थे। उसने नीचे घाटी में कुछ और किस्म के बीज बोने की योजना बनाई थी। घाटी की ज़मीन में कुछ गहराई पर मिट्टी में नमी थी। इसी वजह से यह पेड़ वहाँ अच्छी जड़ पकड़ते।

अगले दिन मैं वहाँ से निकल पड़ा।

अगले वर्ष 1914 को पहला महायुद्ध शुरू हो गया। मेरी फौज़ की टुकड़ी इस जंग में पाँच साल तक लड़ती रही। एक फौज़ी सिपाही की हैसियत से लड़ाई के दौरान मुझे पेड़ों के बारे में सोचने तक की फुर्सत नहीं मिली। सच बात तो यह थी कि उस घटना का मुझ पर बिल्कुल असर नहीं हुआ था। लोगों के अलग-अलग शौक होते हैं - कुछ लोग डाकटिकट इकट्ठा करते हैं तो कुछ लोग विभिन्न देशों के सिक्के। कुछ लोगों को शौकिया तौर पर पेड़ लगाने में भी मज़ा आता होगा। मैं इस घटना को लगभग भूल गया था।

लड़ाई के खत्म होने के बाद मुझे एक लंबी छुट्टी मिली और साथ में अच्छी खासी रकम भी मिली। मैंने सोचा क्यों न सैर-सपाटा किया जाए। और इसी उद्देश्य से मैं एक दफ़ा फिर उसी वीरान इलाके में घुमकड़ी के लिए निकल पड़ा। उस इलाके के हुलिये में कोई खास बदलाव नहीं आया था। परंतु उस खंडहर हुए गाँव में जब मैं पहुँचा तो मुझे दूरदराज़ की पहाड़ियों पर एक धुंध सी नज़र आई। अब जैसे-जैसे मैं उस गड़रिए के घर के नज़दीक पहुँच रहा था उसकी

याद उतनी ही तरोताजा होती जा रही थी। मैं मन में कल्पना कर रहा था कि वह दस हजार पेड़ अब कितने बड़े हो गए होंगे।

मैंने तमाम लोगों को जंग के दौरान मरते देखा था। अगर कोई कहता कि वह गड़रिया अब मर चुका है, तो इस बात को मानने में मुझे कोई भी दिक्कत नहीं होती। भला पचास साठ का बूढ़ा मरने के अलावा और कर ही क्या सकता है। पर वह गड़रिया मरा नहीं था। वह न केवल जिंदा था, बल्कि एकदम भला-चंगा था। उसके काम में थोड़ी बदल जरूर आई थी। उसके पास अब केवल चार भेड़े थीं परंतु सौ मधुमक्खियों के छत्ते थे। उसने अपनी भेड़ों को बेच दिया था। उसे डर था कि कहीं भेड़े उसके नये पौधों को खा न जायें। मैंने स्पष्ट रूप से देखा कि महायुद्ध से उसके कामकाज में कोई फर्क नहीं पड़ा था। वह उस भीषण लड़ाई से एकदम बेखबर था और लगातार बीज बो रहा था और पेड़ लगा रहा था। 1910 में लगाए पेड़ अब इतने ऊँचे हो गए थे कि उनके सामने हम दोनों बौने जैसे लग रहे थे। हरे, लहलहाते पेड़ों का दृश्य बस देखते ही बनता था। इस असाधारण बदलाव का वर्णन करना भी मेरे लिए संभव नहीं है। हम सारा दिन, चुप्पी साधे इस हरे-भरे जंगल में घूमते रहे। हरे-भरे पेड़ों की यह वादी अब ग्यारह किलोमीटर लंबी और तीन किलोमीटर चौड़ी हो गई थी। यह सब कुछ एक अशिक्षित गड़रिए के दो हाथों की कड़ी मेहनत का फल था। उसकी इंसानियत और दरियादिली देख कर मेरा दिल भर आया। मुझे लगा कि अगर कोई आदमी चाहे तो लड़ाई और तबाही का रास्ता छोड़ कर, वह भी भगवान की तरह एक प्यारी और सुंदर दुनिया गढ़ सकता है। वह दुनिया में हो रही हलचल से एकदम बेखबर अपने सपनों को साकार कर रहा था। हवा में लहलहाते चीड़ के असंख्य पेड़ इस बात के मूक गवाह थे। उसने मुझे कुछ देवदार के पेड़ दिखाए जिन्हें उसने पांच बरस पहले लगाया था। उस समय मैं फ्रंट पर लड़ रहा था। उसने इन पेड़ों को घाटी की तलहटी में लगाया था, जहाँ की मिट्टी में अधिक नमी थी। इन पेड़ों की जड़ों ने मिट्टी को बांधे रखा था। उनकी चौड़ी पत्तियाँ छतरियों की तरह धूप को रोक रही थीं और ज़मीन को तपने से बचा रही थीं।

इस बंजर ज़मीन में पेड़ों के लगने से एक नई जान आई थी। परंतु उसके पास यह सब देखने के लिए वक्त ही कहाँ था। वह अपने काम में इतना व्यस्त जो था। परंतु वापसी में, मुझे गाँव के पास कुछ झरनों में से पानी की कलकल सुनाई दी। ये झरने न जाने कब से सूखे पड़े थे। पेड़ों के लगने का यह सबसे उत्साहजनक परिणाम था। बहुत साल पहले इन नालों में अवश्य पानी बहता होगा। जिन खंडहर हुए गाँवों का ज़िक्र मैंने पहले किया था, वह शायद कभी इन नालों के किनारे ही बसे होंगे।

हवा भी बीजों को दूर-दूर तक फैला रही थी। पानी के दुबारा बहने से नालों के किनारों पर अनेक प्रकार के पौधे और घास उग गई थीं। तरह-तरह के बीज जो मिट्टी की चादर ओढ़े सो रहे थे अब

अपनी नींद से जागे थे। जंगली फूल अपनी रंग-बिरंगी आँखों से आसमान को ताक रहे थे। ऐसा लगता था जैसे जिंदगी जीने में कुछ मतलब हो। पर यह सब बदलाव इतनी धीमी और प्राकृतिक गति से हुआ था कि उसे मानने में कोई अचरज नहीं लगता था। खरगोश और जंगली सुअर के शिकारियों ने इन पेड़ों के सैलाब को देखा अवश्य था। परंतु उन्होंने उसे पृथ्वी की सनक समझ कर भुला दिया था। तभी तो गड़रिए के काम में किसी ने कोई दखल नहीं दी थी। अगर उसे किसी ने देखा होता तो अवश्य उसका विरोध हुआ होता। पर उसे ढूँढ पाना बहुत मुश्किल था। सरकार में या आस-पास के गाँवों में, कभी कोई सोच भी नहीं सकता था कि वह विशाल जंगल किसी ने अपने हाथों से लगाया था। इस अनोखे इंसान के व्यक्तित्व का सही अनुमान लगाने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि वह एकदम अकेला था, और एक सुनसान इलाके में अपना काम करता था। उसके एकांत माहौल में इतनी खामोशी थी कि अंत में वह बोलना-चालना भी भूल गया। शायद यह भी संभव है कि उसकी जिंदगी में अब शब्दों की जरूरत भी नहीं रह गई थी।

1933 में पहली बार एक फॉरेस्ट रेंजर भूले-भटके उस तक पहुँचा। रेंजर ने उसे उस आदेश से अवगत कराया जिसमें जंगल के आस-पास किसी तरह की बीड़ी-सिगरेट या आग जलाने पर पाबंदी लगा दी गई थी। ज्वलनशील चीजों से इस सरकारी जंगल को खतरा था। इस रेंजर ने उस जंगल को खुद-ब-खुद उगते देख कर स्वयं भी आश्चर्य प्रकट किया। इस समय वह गड़रिया अपने घर से करीब 12 किलोमीटर की दूरी पर कुछ चीड़ के पेड़ लगाने की सोच रहा था। इतनी दूर रोज़ आने-जाने के बजाए उसने उसी स्थान पर अपना घर बनाने की सोची। अगले साल वह नये मकान में चला गया।

1935 में उस प्राकृतिक जंगल का मुआयना करने एक बड़ा सरकारी दल भी आया। उसमें वन-विभाग के तमाम अफसर शामिल थे। उन्होंने तमाम बेमतलब की बातें कीं। उनकी निरर्थक बातों से और तो कोई लाभ नहीं हुआ, पर इतना अवश्य हुआ कि सारा जंगल सुरक्षित-वन-क्षेत्र घोषित कर दिया गया। उसका एक फायदा यह हुआ कि लकड़ी से कोयला बनाने के धंधे पर पाबंदी लग गई। इस जंगल की सुंदरता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता था। शायद इसी खूबसूरती की वजह से ही सरकारी अफसरों का दिल भी पिघल गया था। मुआयने के लिए आए दल में मेरा एक मित्र भी था। जब मैंने उसे जंगल का सही रहस्य बताया तो वह आश्चर्य चकित रह गया। अगले हफ्ते हम दोनों उस गड़रिए के पास गए। वह अपने काम में व्यस्त था। यह जगह मुआयने वाले स्थल से करीब दस किलोमीटर दूरी पर थी।

वह यूँ ही मेरा दोस्त नहीं बन गया था। वह एक अच्छा इंसान था और भले काम की इज्जत करता था। जो खाना में अपने साथ लाया था उसे हम तीनों ने एक साथ मिलकर खाया। उसके बाद हम कई घंटों तक उस खूबसूरत जंगल को निहारते रहे। जिस दिशा से हम आए थे उस पहाड़ी के ढलानों पर लगे पेड़ अब

20-25 फुट ऊंचे हो चुके थे। मुझे साफ याद है कि 1913 में यही जमीन एकदम बंजर और बेजान थी। मानसिक शांति, कड़ी मेहनत, पहाड़ों की स्वेच्छा हवा और एक सात्विक जीवन ने उस गड़रिए की उम्दा सेहत बख्शी थी। इस पृथ्वी पर शायद वह भगवान का अपना दूत था। मैं बस यही सोच रहा था कि वह कितनी सारी ज़मीन पर और पेड़ लगायेगा।

जाने से पहले मेरे मित्र ने मिट्टी को जाँच कर कुछ खास किस्म के पेड़ों को लगाने का सुझाव दिया। लेकिन उसने अपने इस सुझाव पर बहुत जोर नहीं दिया। बाद में उसने मुझ से कहा, 'मेरे आग्रह न करने के पीछे एक अच्छा कारण है।' वह गड़रिया पेड़ों के बारे में मुझसे कहीं अधिक जानता है। कोई घंटा भर चलने के बाद मेरे अफसर दोस्त ने मुझसे फिर कहा, वह आदमी शायद पेड़ों के विषय में दुनिया में सबसे अधिक जानता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसने खुश रहने का एक अद्भूत तरीका खोज लिया है।

उस अफसर की बदौलत ही जंगल सुरक्षित रह पाया और साथ में गड़रिए की खुशी भी। उस अफसर ने जंगल की सुरक्षा के लिए तीन रेंजर नियुक्त किए। उन पर कड़ा अंकुश रखा गया जिससे यह कोयला बनाने वालों द्वारा दी गई शराब की बोटलों जैसी रिश्तत से मुक्त रहें। 1939 में अवश्य इस सुरक्षा के काम में कुछ बाधा आई। रेल की लाइन बिछाने के लिए लकड़ी के स्लीपरों की बड़ी मात्रा में ज़रूरत पड़ी। उसके कारण पेड़ों की अंधाधुंध कटाई शुरू हुई। परंतु यह इलाका रेल स्टेशन या पक्की सड़क की पहुंच से इतना दूर था कि लड़कों को लाद कर ले जाने का काम बहुत महंगा साबित हुआ। इसी कारण जंगल काटना बंद हो गया। गड़रिए को इस पूरी घटना का कोई आभास भी न था। वह लगभग 30 किलोमीटर की दूरी पर, शांत भाव से पेड़ लगाने के काम में व्यस्त था। दूसरे महायुद्ध को भी उसने इसी तरह नज़रंदाज़ किया था। जून 1945 में मुझे उस बूढ़े गड़रिए से आखिरी बार मिलने का मौका मिला। उस समय उसकी उम्र करीब सत्तासी वर्ष की होगी। इस बीच वहाँ काफी परिवर्तन आया था। इस बियावान सड़क पर जब मैंने बस को चलते देखा तो मुझे बहुत ताज्जुब हुआ। मैं कई सुपरिचित स्थानों को पहचान भी न पाया। बस मुझे कई नये इलाकों से घुमाती हुई ले गई। जब मैंने एक बोर्ड पर उस पुराने गाँव का नाम लिखा देखा तभी मुझे इस बात का अहसास हुआ कि यह तो वही गाँव है जो एक समय में खंडहर हो गया था।

मैं बस से उतरकर गाँव की ओर पैदल ही चला। मुझे साफ याद है कि 1913 में उस गाँव के 10-12 टूटे-फूटे मकानों में केवल तीन ही लोग रहते थे। गमी और गरीबी के कारण वे बेहाल थे। उनकी हालत आदिम युग के वहशियों जैसी थी। उनके आसपास के घरों में कंटीली झाड़ियाँ उगी हुई थीं। उस निराश जीवन से केवल मौत ही उन्हें मुक्त कर सकती थी।

पर अब सब कुछ बदला हुआ लग रहा था। हवा में अच्छी

खुशबू थी। गर्म लू के थपेड़ों की बजाए अब हवा में कुछ नमी थी। एक ओर मुझे पानी के गिरने की आवाज़ सुनाई दी। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब मैंने पाया कि वहाँ एक छोटे ताल में फव्वारा चल रहा था। और उसके पास ही किसी ने कनक चम्पा का एक खूबसूरत पेड़ लगा रखा था। पेड़ कोई चार साल पुराना होगा। चम्पा का पेड़ इस बात का प्रतीक था कि इस मृत मरुस्थल में अब दुबारा जीवन लौट आया था।

गाँव को देखकर ऐसा लगता था जैसे वहाँ के लोगों का एक उज्ज्वल भविष्य म. विश्वास जगा है। उनमें एक नई आशा जगी है। खंडहरों को हटा कर पाँवों घरों की मरम्मत कर पुख्ता बनाया गया था। गाँव में अब 28 लोग रहते थे जिनमें चार दंपति भी शामिल थे। नये घरों को हाल ही में लीपा-पोता गया था और उनके सामने क्यारियों में हरी सब्जियाँ, फल और फूल उग रहे थे। कहीं पर गुलाब और गेंदे के फूल थे तो कहीं पर लौकी और सेम की बेल थी। वह अब ऐसा गाँव बन गया था, जहाँ हर किसी का रहने और बसने का दिल करे।

महायुद्ध अभी खत्म ही हुआ था और इस कारण जनजीवन अभी भी पूरी तरह सामान्य नहीं हो पाया था। पहाड़ी के निचले ढाल पर मैंने जौ बाजरे के खेत देखे। संकरी घाटी में जहाँ नमी अधिक थी वहाँ अब हरियाली उग आई थी।

केवल आठ वर्षों में ही यह इलाका हरा-भरा और खुशहाल हो गया था। 1913 म., मुझे जहाँ खंडहर दिखे थे वहाँ अब हरे-भरे खेत खड़े थे। लोग भी खुश और सुखी दिखाई पड़ते थे। पहाड़ी नाले जो पहले सूख गए थे अब उनमें दुबारा पिघली बर्फ का निर्मल पानी बहने लगा था। इस पानी को नालियों के जरिए अलग-अलग खेतों में ले जाया जा रहा था। खेतों के पास पेड़ों के सायेदार झुरमुटे थे। धीरे-धीरे करके पूरा गाँव दुबारा आबाद हो गया था। मैदानी इलाकों में ज़मीन की कीमत महंगी थी। वहाँ से लोग आकर यहाँ पर बस गए थे। वह अपने साथ नया उत्साह और उमंग लाए थे। सड़कों पर आप ऐसे लोगों को देख सकते थे जिनके चेहरों पर मुस्कुराहट और आँखों में चमक थी। अगर यहाँ की पूरी आबादी को गिना जाए तो इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि इन दस हज़ार लोगों की खुशहाली का ज़िम्मेदार वह अनपढ़ गड़रिया था।

जब मैं सोचता हूँ कि यह सब खुशहाली एक अकेले आदमी के दिल और हाथों से सम्पन्न हुई है तो मैं नतमस्तक हो जाता हूँ। एक साधारण से इंसान ने अकेले ही उस बंजर भूमि को आबाद किया था। जब मैं यह सोचता हूँ तो तमाम मुश्किलों के बावजूद, इंसानियत में मेरा विश्वास फिर से बुलंद हो जाता है। उस अनपढ़ महान आत्मा के जीवन से मैंने केवल एक ही सबक सीखा है कि अगर इंसान चाहे तो धरती पर रह कर वह भी भगवान जैसा परोपकार कर सकता है।

हॉस्पिक बेनन म. 1947 म. एक पेड़ के नीचे एल्झेड बुफनेर की आँख. सदा के लिए बंद हो गयी।

साभार : ज्ञान विज्ञान समिति

सिमटती नदियाँ, संकट में मानव सभ्यता

■ पंकज चतुर्वेदी

बहुत पुरानी बात है, हमारे देश में एक नदी थी सिंधु। इस नदी की घाटी में खुदाई हुई तो मोहन जोदड़ों नाम का शहर मिला, ऐसा शहर जो बताता था कि हमारे पूर्वजों के पूर्वज बेहद सभ्य व सुसंस्कृत थे और नदियों से उनका शरीर-श्वास का रिश्ता था। नदियों के किनारे समाज विकसित हुआ, बस्ती, खेती, मिट्टी व अनाज का प्रयोग, अग्नि का इस्तेमाल के अन्वेषण हुए।

मन्दिर व तीर्थ नदी के किनारे बसे, ज्ञान व अध्यात्म का पाठ इन्हीं नदियों की लहरों के साथ दुनिया भर में फैला। कह सकते हैं कि भारत की सांस्कृतिक व भावात्मक एकता का समवेत स्वर इन नदियों से ही उभरता है। इंसान मशीनों की खोज करता रहा, अपने सुख-सुविधाओं व कम समय में ज्यादा काम की जुगत तलाशता रहा और इसी आपाधापी में सरस्वती जैसी नदी गुम हो गई। गंगा व यमुना पर अस्तित्व का संकट खड़ा हो गया।

बीते चार दशकों के दौरान समाज व सरकार ने कई परिभाषाएँ, मापदण्ड, योजनाएँ गढ़ीं

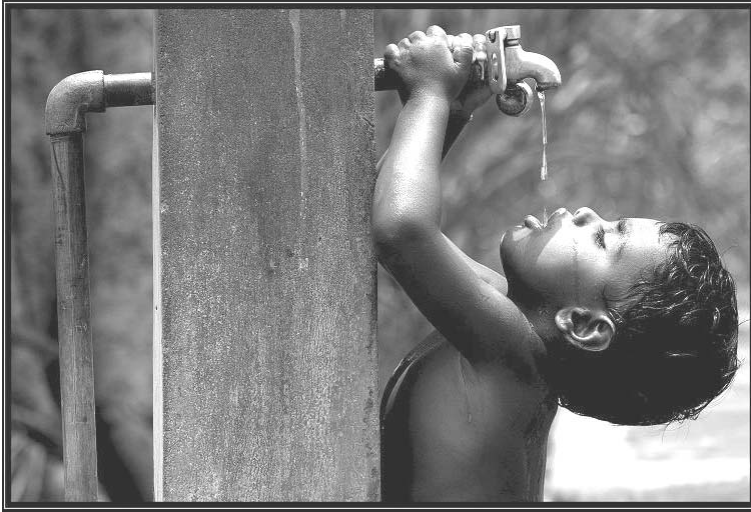
कि नदियों को बचाया जाये, लेकिन विडम्बना है कि उतनी ही तेजी से पावनता और पानी नदियों से लुप्त होता रहा।

हमारे देश में 13 बड़े, 45 मध्यम और 55 लघु जलग्रहण क्षेत्र हैं। जलग्रहण क्षेत्र उस सम्पूर्ण इलाके को कहा जाता है, जहाँ से पानी बहकर नदियों में आता है। इसमें हिमखण्ड, सहायक नदियाँ, नाले आदि शामिल होते हैं।

जिन नदियों का जलग्रहण क्षेत्र 20 हजार वर्ग किलोमीटर से बड़ा होता है, उन्हें बड़ा-नदी जलग्रहण क्षेत्र कहते हैं। 20 हजार से दो हजार वर्ग किलोमीटर वाले को मध्यम, दो हजार से कम वाले को लघु जल ग्रहण क्षेत्र कहा जाता है। इस मापदण्ड के अनुसार गंगा, सिंधु, गोदावरी, कृष्णा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, तापी, कावेरी, पेन्नार, माही, ब्राह्मणी, महानदी और साबरमति बड़े जल ग्रहण क्षेत्र वाली नदियाँ हैं। इनमें से तीन नदियाँ - गंगा, सिंधु और ब्रह्मपुत्र हिमालय के हिमखण्डों के पिघलने से अवतरित

होती हैं। इन सदानीरा नदियों को 'हिमालयी नदी' कहा जाता है। शेष दस को पठारी नदी कहते हैं, जो मूलतः वर्षा पर निर्भर होती हैं।

यह आँकड़ा वैसे बड़ा लुभावना लगता है कि देश का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 32.80 लाख वर्ग किलोमीटर है, जबकि सभी नदियों का सम्मिलित जलग्रहण क्षेत्र 30.50 लाख वर्ग किलोमीटर है। भारतीय नदियों के मार्ग से हर साल 1645 घन किलोलीटर पानी बहता है जो सारी दुनिया की कुल नदियों का 4.445 प्रतिशत है। आँकड़ों के आधार पर हम पानी के मामले में पूरी दुनिया में सबसे ज्यादा समृद्ध हैं, लेकिन चिन्ता का विषय यह है कि पूरे पानी का



कोई 85 फीसदी बारिश के तीन महीनों में समुद्र की ओर बह जाता है और नदियाँ सूखी रह जाती हैं।

नदियों के सामने खड़े हो रहे संकट ने मानवता के लिये भी चेतावनी का बिगुल बजा दिया है, जाहिर है कि बगैर जल के जीवन की कल्पना सम्भव नहीं है। हमारी नदियों के सामने मूलरूप से तीन तरह के

संकट हैं - पानी की कमी, मिट्टी का आधिक्य और प्रदूषण।

धरती के तापमान में हो रही बढ़ोत्तरी के चलते मौसम में बदलाव हो रहा है और इसी का परिणाम है कि या तो बारिश अनियमित हो रही है या फिर बेहद कम। मानसून के तीन महीनों में बमुश्किल चालीस दिन पानी बरसना या फिर एक सप्ताह में ही अन्धाधुन्ध बारिश हो जाना या फिर बेहद कम बरसना, ये सभी परिस्थितियाँ नदियों के लिये अस्तित्व का संकट पैदा कर रही हैं।

बड़ी नदियों में ब्रह्मपुत्र, गंगा, महानदी और ब्राह्मणी के रास्तों में पानी खूब बरसता है और इनमें न्यूनतम बहाव 4.7 लाख घनमीटर प्रति वर्ग किलोमीटर होता है। वहीं कृष्णा, सिंधु, तापी, नर्मदा और गोदावरी का पथ कम वर्षा वाला है सो इसमें जल बहाव 2.6 लाख घनमीटर प्रति वर्गकिलोमीटर ही रहता है। कावेरी, पेन्नार, माही और साबरमति में तो बहाव 0.6 लाख

घनमीटर ही रह जाता है। सिंचाई व अन्य कार्यों के लिये नदियों के अधिक दोहन, बाँध आदि के कारण नदियों के प्राकृतिक स्वरूपों के साथ भी छेड़छाड़ हुई व इसके चलते नदियों में पानी कम हो रहा है।

नदियाँ अपने साथ अपने रास्ते की मिट्टी, चट्टानों के टुकड़े व बहुत सा खनिज बहाकर लाती हैं। पहाड़ी व नदियों के मार्ग पर अन्धाधुन्ध जंगल कटाई, खनन, पहाड़ों को काटने, विस्फोटकों के इस्तेमाल आदि के चलते थोड़ी सी बारिश में ही बहुत सा मलबा बहकर नदियों में गिर जाता है।

परिणामस्वरूप नदियाँ उथली हो रही हैं, उनके रास्ते बदल रहे हैं और थोड़ा सा पानी आने पर ही वे बाढ़ का रूप ले लेती हैं। यह भी खतरनाक है कि सरकार व समाज इन्तजार करता है कि नदी सूखे व हम उसकी छोड़ी हुई जमीन पर कब्जा कर लें। इससे नदियों के पाट संकरे हो रहे हैं उसके करीब बसावट बढ़ने से प्रदूषण की मात्रा बढ़ रही है।

नदियों के सामने खड़े हो रहे संकट ने मानवता के लिये भी चेतावनी का बिगुल बजा दिया है, जाहिर है कि बगैर जल के जीवन की कल्पना सम्भव नहीं है। हमारी नदियों के सामने मूलरूप से तीन तरह के संकट हैं - पानी की कमी, मिट्टी का आधिक्य और प्रदूषण। धरती के तापमान में हो रही बढ़ोत्तरी के चलते मौसम में बदलाव हो रहा है और इसी का परिणाम है कि या तो बारिश अनियमित हो रही है या फिर बेहद कम। मानसून के तीन महीनों में बमुश्किल चालीस दिन पानी बरसना या फिर एक सप्ताह में ही अन्धाधुन्ध बारिश हो जाना या फिर बेहद कम बरसना, ये सभी परिस्थितियाँ नदियों के लिये अस्तित्व का संकट पैदा कर रही हैं।

आधुनिक युग में नदियों को सबसे बड़ा खतरा प्रदूषण से है। कल-कारखानों की निकासी, घरों की गन्दगी, खेतों में मिलाए जा रहे रासायनिक दवा व खादों का हिस्सा, भूमि कटाव, और भी कई ऐसे कारक हैं जो नदी के जल को जहर बना रहे हैं। अनुमान है कि जितने जल का उपयोग किया जाता है, उसके मात्र 20 प्रतिशत की ही खपत होती है, शेष 80 फीसदी सारा कचरा समेटे बाहर आ जाता है। यही अपशिष्ट या मल-जल कहा जाता है, जो नदियों का दुश्मन है। भले ही हम कारखानों को दोषी बताएँ, लेकिन नदियों की गन्दगी का तीन चौथाई हिस्सा घरेलू मल-जल ही है।

आज देश की 70 फीसदी नदियाँ प्रदूषित हैं और मरने के कगार पर हैं। इनमें गुजरात की अमलाखेड़ी, साबरमती और खारी, हरियाणा की मारकंडा, मप्र की खान, उप्र की काली और हिण्डन, आन्ध्र की मुंसी, दिल्ली में यमुना और महाराष्ट्र की भीमा मिलाकर 10 नदियाँ सबसे ज्यादा प्रदूषित हैं।

हालत यह है कि देश की 27 नदियाँ नदी के मानक में भी रखने लायक नहीं बची हैं। वैसे गंगा हो या यमुना,

गोमती, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, महानदी, ब्रह्मपुत्र, झेलम, सतलुज, चेनाब, रावी, व्यास, पार्वती, हरदा, कोसी, गंडगोला, मसैहा, वरुणा, बेतवा, ढौंक, डेकन, डागरा, रमजान, दामोदर, सुवर्णरेखा, सरयू, रामगंगा, गौला, सरसिया, पुनपुन, बूढ़ी गंडक, गंडक, कमला, सोन एवं भगीरथी या फिर इनकी सहायक, कमोबेश सभी प्रदूषित हैं और अपने अस्तित्व के लिये जूझ रही हैं।

दरअसल पिछले 50 बरसों में अनियंत्रित विकास और औद्योगीकरण के कारण प्रकृति के तरल स्नेह को संसाधन के रूप में देखा जाने लगा, श्रद्धा-भावना का लोप हुआ और उपभोग की वृत्ति बढ़ती चली गई। चूँकि नदी से जंगल, पहाड़, किनारे, वन्य जीव, पक्षी और जन-जीवन गहरे तक जुड़ा है, इसलिये जब नदी पर संकट आया, तब उससे जुड़े सभी सजीव-निर्जीव प्रभावित हुए बिना न रहे और उनके अस्तित्व पर भी संकट मँडराने लगा। असल में जैसे-जैसे सभ्यता का विस्तार हुआ, प्रदूषण ने नदियों के अस्तित्व को ही संकट में डाल दिया।

राष्ट्रीय पर्यावरण संस्थान, नागपुर की एक रपट बताती है कि गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कावेरी सहित देश की 14 प्रमुख नदियों में देश का 85 प्रतिशत पानी प्रवाहित होता है। ये नदियाँ इतनी बुरी तरह प्रदूषित हो चुकी हैं कि देश की 66 फीसदी बीमारियों का कारण इनका जहरीला जल है। इस कारण से हर साल 600 करोड़ रुपए के बराबर सात करोड़ तीस लाख मानव दिवसों की हानि होती है।

अभी तो देश में नदियों की सफाई नारों के शोर और आँकड़ों के बोझ में दम तोड़ती रही हैं। बड़ी नदियों में जाकर मिलने वाली हिण्डन व केन जैसी नदियों का तो अस्तित्व ही संकट में है तो यमुना कहीं लुप्त हो जाती है व किसी गन्दे नाले के मिलने से जीवित दिखने लगती है। सोन, जोहिला, नर्मदा के उद्गम स्थल अमरकंटक से ही नदियों के दमन की शुरुआत हो जाती है तो कही नदियों को जोड़ने व नहर से उन्हें जिन्दा करने के प्रयास हो रहे हैं। नदी में जहर केवल पानी को ही नहीं मार रहा है, उस पर आश्रित जैव संसार पर भी खतरा होता है। नदी में मिलने वाली मछली केवल राजस्व या आय का जरिया मात्र नहीं है, यह जल प्रदूषण दूर करने में भी सहायक होती हैं।

जल ही जीवन का आधार है, लेकिन भारत की अधिकांश नदियाँ शहरों के करोड़ों लीटर जल-मल व कारखानों से निकले जहर को ढोने वाले नाले का रूप ले चुकी हैं। नदियों में शव बहा देने, नदियों के प्राकृतिक प्रवाह को रोकने या उसकी दिशा बदलने से हमारे देश की असली ताकत, हमारे समृद्ध जल-संसाधन नदियों का अस्तित्व खतरे में आ गया है।

साभार : <http://hindi.indiawaterportal.org>

राजनीति : शिक्षा भी, मजदूरी भी

■ कृष्ण कुमार

कहते हैं, शब्दों की अपनी दुनिया होती है। कवि और कहानीकार शब्दों के जरिए हमें किसी और दुनिया में ले जाते हैं। फिर कानून रचने वाले क्यों पीछे रहें? नए कानून में पूर्णतः प्रतिबंधित उद्यमों की संख्या घटा कर तीन और खतरनाक मानी गई उत्पादन प्रक्रियाओं की संख्या कुल उन्तीस कर दी गई है। बीड़ी बनाने और चूड़ी उद्योग से जुड़े काम अब खतरनाक नहीं रहे। अगर ये परिवार के स्तर पर घर में किए जा रहे हैं, तो माता-पिता इन कामों में स्कूल से लौटे बच्चों को शामिल कर सकते हैं।

कहते हैं, शब्दों की अपनी दुनिया होती है। कवि और कहानीकार शब्दों के जरिए हमें किसी और दुनिया में ले जाते हैं। फिर कानून रचने वाले क्यों पीछे रहें? नए बाल मजदूरी कानून का प्रयास कुछ ऐसा ही है। यह कानून कहता है कि छह से चौदह वर्ष के बच्चे स्कूल से घर लौट कर किसी 'पारिवारिक उद्यम' में हाथ बंटाने तो इसे मजदूरी नहीं माना जाएगा। इस सुघड़ तर्क की आधारशिला पर यह कानून बाल मजदूरी पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने का दावा करता है। इस दावे से सत्ता और मुख्य प्रतिपक्ष सहमत हैं, तभी यह कानून लोकसभा में आने से पहले राज्यसभा में आराम से पारित हो गया। मुख्य विपक्षी दल कांग्रेस को इस कानून के शब्दों में कोई खेल नजर नहीं आया। सत्तापक्ष की हर बात में लक्षणा और व्यंजना ढूंढने वाली कांग्रेस ने बाल श्रम संशोधन विधेयक में शुद्ध मन और सिर्फ अभिधा का प्रयोग किया और कुछ भी ऐसा नहीं पाया जिसमें संदेह, वंचना या षड्यंत्र हो। यहां तक कि विरोधाभास भी नहीं दिखा। पूरी एक सदी के इंतजार के बाद भारत के करोड़ों गरीब बच्चों को मिले शिक्षा के अधिकार में पानी मिला दिया गया।

छोटे बच्चों को शिक्षा का अधिकार दिलाने की कोशिश पहली बार 1911 में गोपाल कृष्ण गोखले ने की थी। उस समय की 'इंपीरियल' विधान परिषद में गोखले के हाथों प्रस्तुत हुआ बिल छोटे लड़कों तक सीमित था, फिर भी पारित नहीं हो सका था। महाराजा दरभंगा जैसे भारतीय सदस्यों ने मुखर स्वर में पूछा था कि अगर गांव के सारे लड़के स्कूल में पढ़ने लगेंगे, तो हमारे खेतों में मजदूरी कौन करेगा? पूरे सौ साल बाद जब अनिवार्य शिक्षा का कानून संसद में पारित हुआ तो इस ऐतिहासिक घटना के पीछे सुप्रीम कोर्ट में चले

कई मुकदमे, अनेक अनुसंधान और सैकड़ों जुझारू स्वैच्छिक संगठनों के अथक प्रयास से बनी राजनीतिक सहमति का जोर था। छह से चौदह वर्ष के हर बच्चे को शिक्षा का मूलभूत अधिकार दिलाने वाले कानून की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इसके दायरे में छोटी लड़कियां शामिल थीं। संस्कृति का तकाजा है कि जन्म के साथ ही लड़की को घरेलू कामों में हाथ बंटाने का प्रशिक्षण दिया जाए।

सात-आठ साल की बच्ची घर की सफाई और खाना पकाने जैसे दैनिक कामों के अलावा उस उद्यम में भी सक्रिय रूप से प्रवेश पा चुकी होती है, जो जाति-व्यवस्था के हिसाब से परिवार में होता आया है। इस लड़की को स्कूल भेजने वाला और स्कूल में उसकी पढ़ाई को गुणवत्ता के मानकों में बांधने की कोशिश करने वाला कानून एक सपने जैसा था। इस सपने के साकार होने की राह सांस्कृतिक कांटों और सरकारी चट्टानों से भरी थी। तब नए बाल श्रम कानून के शब्दजाल में यह राह ठीक से दिखाई तक नहीं देगी। प्रारंभिक



शिक्षा के सार्वजनीकरण का सपना कई दशक आगे खिसक गया है। विकास की परिचित शब्दावली में जिसे 'आगे बढ़ना' कहते हैं, उसका ठीक उल्टा हुआ है। बच्चों के अधिकार उन्हें दिलाने की राष्ट्रीय मुहिम दो कदम आगे बढ़ी थी; अब वह चार कदम पीछे हट गई है। ऐसा भला क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अवश्य खोजा जाना चाहिए। एक सुराग इस बात से मिलता है कि नया श्रम कानून राज्यसभा में, जहां सत्ताधारी दल का बहुमत नहीं है, आराम से पारित हो गया। कई स्वैच्छिक संगठनों ने विधेयक के खिलाफ आवाज उठाई थी। उनकी आवाज न सत्तापक्ष ने सुनी, न प्रतिपक्ष ने। इस बात से यह अर्थ निकालना कतई ज्यादाती नहीं होगी कि समकालीन

राजनीति में स्वैच्छिक या गैर-सरकारी संगठनों- जिन्हें अक्सर 'सिविल सोसायटी' बताया जाता है- के दबाव में कोई खास दम नहीं है। होता तो बंधुआ मजदूर बच्चों के अधिकारों के लिए संघर्ष में नोबेल शांति पुरस्कार के हकदार बन चुके कैलाश सत्यार्थी की हैसियत से कुछ फर्क पड़ता। उन्होंने कहा है कि वे नए बाल श्रम कानून से निराश हैं।

यही मनोदशा उन तमाम बौद्धिकों की है, जो अपने सामाजिक सरोकारों के लिए जाने जाते हैं। एक अखबार दूढ़ना मुश्किल है, जिसके संपादकीय या संपादकीय पृष्ठ पर छपे लेख में नए कानून का स्वागत हुआ हो। हर तरफ निराशा, आश्चर्य और आलोचना के स्वर सुनाई दे रहे हैं। इन्हें सुन कर मानना पड़ेगा कि कानून बनाने वाले हमारे प्रतिनिधि उस विमर्श से अलग-थलग पड़ गए हैं, जो समाज की वैचारिक दुनिया से उपजता है। इस विमर्श की जिम्मेदारी बनती है कि वह बाल श्रम कानून में लाए गए आश्चर्यजनक बदलाव के कारणों का विश्लेषण करे और समाज के आर्थिक-शैक्षिक ढांचे में आ रहे गहन परिवर्तनों को पहचाने। नए कानून की रचना में इन परिवर्तनों का डर और दबाव तलाशा जा सकता है।

बाल मजदूरी पर आया यह नया कानून 1986 में बने कानून का स्थान लेगा। उस कानून में बच्चों को जिन खतरनाक कामों से पूर्णतः बाहर रखने का प्रावधान था, उनमें सोलह किस्म के उद्यम या पेशे और पैसठ उत्पादक प्रक्रियाएं शामिल थीं। नए कानून में पूर्णतरु प्रतिबंधित उद्यमों की संख्या घटा कर तीन और खतरनाक मानी गई उत्पादन प्रक्रियाओं की संख्या कुल उनतीस कर दी गई है। बीड़ी बनाने और चूड़ी उद्योग से जुड़े काम अब खतरनाक नहीं रहे। अगर ये परिवार के स्तर पर घर में किए जा रहे हैं, तो माता-पिता इन कामों में स्कूल से लौटे बच्चों को शामिल कर सकते हैं। ये सिर्फ दो उदाहरण हैं। चमड़ा और दरी उद्योग में विविध काम और कूड़ा बीनने- जिसमें अब कंप्यूटर और मोबाइल फोन का बारीक धातु-कुणों वाला कचरा शामिल है- जैसी गतिविधियों का आर्थिक ही नहीं, सामाजिक आधार और चरित्र भी है। यह चरित्र इन जैसे अनेक कामों को जातिप्रथा ने दिया है। इन्हें 'घरेलू उद्यम' की संज्ञा देकर बच्चों के लिए वैध ठहरा देना शब्दों की बाजीगरी भर है। स्कूल से लौट कर आए बच्चे इन कामों में हिस्सा बंटाने तो परिवार की उत्पादकता और आमदनी बढ़ेगी और बच्चे मां-बाप का हुनर सीखेंगे, यह तर्क खोखला और विकराल है। आंबेडकर आज जीवित होते तो जरूर इस तर्क को अंधेरा फैलाने का साधन बताते। प्रशासनिक अंधेर का वाहन तो वह बनेगा ही। घरेलू उद्योगों को दी गई छूट की आड़ में बच्चों के श्रम का शोषण करने वाले ठेकेदार पनपेंगे। वे जब सस्ती दिहाड़ी देकर उत्पादन बढ़ाते हैं, तो उनसे चीजें खरीदने वाले छोटे उद्योगपति और व्यापारी, जिनमें निर्यातक शामिल हैं, खुश हो जाते हैं। इन खिलाड़ियों की समग्र राजनीतिक ताकत को कम करके आंकना भूल होगी।

बाल मजदूरी के एक जीवित नरक को अपनी आंखों से देखने

का अवसर मुझे लगभग बारह साल पहले मिला था। चूड़ी उद्योग के केंद्र फिरोजाबाद में तब तक काफी सुधार हो चुका था। कांच पिघलाने वाली भट्टियों के इर्दगिर्द कोई बालक नहीं बचा था और भट्टियां स्वयं कुछ सुधर गई थीं। स्वैच्छिक संगठनों और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के दबाव ने फिरोजाबाद को मानवीयता के दायरे में खींच लाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न किए थे। इधर-उधर 'विस्थापित बाल-श्रमिक' पाठशालाएं खुली हुई थीं, जिनके जरिए सर्वशिक्षा अभियान मजदूर मां-बाप के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा देने की कोशिश कर रहा था। दोपहर में मुझे कुछ ऐसे घरों में ले जाया गया, जहां पास के कारखानों से ढुल कर आई कांच की लंबी कुंडलियों को हौले से चटका कर चूड़ियां निकाली जाती थीं, फिर उनके खुले सिरों को मोमबत्ती की लौ में कुछ क्षण रख कर पिघलाया जाता था, ताकि वे जोड़े जा सकें। यह काम नंगे फर्श पर बैठे छोटे-छोटे बच्चे कर रहे थे। एक हजार चूड़ी जोड़ने के बीस रुपए पाकर वे अपने घरों की आमदनी में इजाफा करते थे। संभव है, इधर के दस-बारह वर्षों में वे स्कूल में टिकने लगे हों। अब नए कानून की छाया में वे स्कूल से लौट कर देर रात तक चूड़ियां जोड़ेंगे और अगली सुबह फिर हंसते-गाते स्कूल जा सकेंगे। यही है इस नए बाल-श्रम संशोधन विधेयक 2016 की जबर्दस्त कल्पना।

चूड़ी उद्योग अब खतरनाक नहीं रहा। चौदह साल से कम के बच्चे उससे जुड़े छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों में स्कूल से लौट कर काम करने के लिए स्वतंत्र हैं। इस उद्योग की ज्यादा प्रकट भूमिकाओं में किशोर आयु के बच्चे मुझे बारह साल पहले भी देखे थे, अब चौदह साल से ऊपर के बच्चों के लिए मजदूरी करने का रास्ता साफ हो गया है। 'चूड़ी बाजार में लड़की' में मैंने इस उद्योग के कई चित्र खींचे, जो गरीबी की निर्मम मार सहते बचपन की झलक देते हैं। छह वर्ष पहले जब शिक्षा के अधिकार का कानून लागू हुआ तो यह अहसास होने लगा कि अंततः समाज के उत्पीड़न-तंत्र में स्कूल का दखल होने जा रहा है। इस कानून के लागू होने के बाद उपजे जोश में चर्चा होने लगी कि अब दसवीं तक की शिक्षा भी अधिकार की श्रेणी में लाई जाएगी। लड़कियों की शिक्षा भी राष्ट्रीय स्तर के नारों का विषय बनी, तो शिक्षा के प्रसार में लगे कई संगठनों को आशा बंधी कि सरकारी और सामाजिक कोशिश आपस में जुड़ेंगी। ये संभावनाएं अब क्षीण पड़ गई हैं। एक तरफ नए बाल श्रम कानून ने बच्चों से मजदूरी कराने के वैध रास्ते खोल दिए हैं, दूसरी तरफ छठी कक्षा से वार्षिक परीक्षा और 'पास-फेल' की व्यवस्था को वापस लाने का प्रस्ताव जोर पकड़ रहा है। शिक्षा की नई नीति बनाने के लिए जारी किए गए दस्तावेजों में इस प्रस्ताव का जिक्र है। कुपोषण और निर्धनता में जीते बच्चे पांचवीं तक पहुंच भी जाएं तो छठी-सातवीं में अटक जाएंगे। उनके शिक्षक और अभिभावक मान लेंगे कि ये बच्चे दो-दो पैसे कमा कर लाने लगे तो क्या बुरा है।

साभार : जनसत्ता

पीर बुद्ध शाह

■ सुरेंद्रपाल सिंह

हिमाचल प्रदेश के सिरमौर जिले में यमुना नदी के किनारे एक शहर की स्थापना दसवें पातशाह साहिब श्री गुरु गोबिन्द सिंह जी द्वारा हुई थी। इस शहर को पांवटा साहिब के नाम से जाना जाता है, जिसका कारण गुरु जी के पाँव/चरणों का उस स्थान पर पड़ना था। गुरुद्वारा पांवटा साहब के नाम से वहाँ पर एक ऐतिहासिक और भव्य गुरुद्वारा सुशोभित है।

पांवटा साहिब से करीब 10 किलोमीटर की दूरी पर एक और ऐतिहासिक गुरुद्वारा है भंगाणी साहिब। भंगाणी उस स्थान का नाम है जहाँ सन् 1686 में पहाड़ी राजाओं के गठजोड़ और गुरु गोबिन्द सिंह के बीच एक लड़ाई हुई थी, जिसमें गुरु गोबिन्द सिंह जी अपने करीब चार हजार अनुयायियों के साथ पहाड़ी राजाओं की करीब तीस हजार की फौज पर भारी पड़े थे।

सन् 1666 में जन्मे गुरु गोबिन्द सिंह जी मात्र 9 वर्ष के थे जब उन्होंने अपने पिता नौवें गुरु तेग बहादुर की शहादत का 1675 में अहसास किया। तदुपरान्त आनन्दपुर साहिब में उनकी बढ़ती लोकप्रियता और गतिविधियाँ इस इलाके के राजा भीमचंद को रास नहीं आ रही थी। दूसरे पहाड़ी राजा भी राजा भीमचंद की तरह खतरा महसूस करने लगे थे, क्योंकि गुरु गोबिन्द सिंह ने अपनी फौज तैयार करनी शुरू कर दी थी, जिनमें 500 पठान भी शामिल थे। पहाड़ी हिंदू राजपूत राजाओं को दूसरी बड़ी चिढ़ इस बात की थी कि निम्न जाति के लोग तेजी से गुरु गोबिन्द सिंह के जातिविहीन समुदाय की ओर आकर्षित होने लगे थे और इस प्रकार उनका सिर उठाकर जीने का प्रयास उन राजाओं को फूटी आंख भी नहीं सुहा रहा था। जब अनेक प्रकार की धमकियों का कोई असर नहीं हुआ तो उन राजाओं ने सामूहिक रूप से मिलकर पहले गुरु गोबिन्द सिंह से जुड़े हुए अधिकतर पठान सिपाहियों को खरीदा और फिर हमला कर दिया। उल्लेखनीय है कि इस हमले से पहले गुरु गोबिन्द सिंह के कैंप में रहने वाले अधिकतर उदासी अनुयायी भी उन्हें छोड़ कर चले गये थे। ये भंगाणी की लड़ाई थी जिसमें गुरु गोबिन्द सिंह को जीत हासिल हुई। इस लड़ाई का एक दिलचस्प अध्याय है-पीर बुद्ध शाह। सिक्ख इतिहास पर लिखी गई अनेक पुस्तकों व सटौरा में स्थित गुरु द्वारा जन्म स्थान पीर बुद्ध शाह द्वारा प्रकाशित पुस्तक से हमें इस संबंध में रोचक व ज्ञानवर्द्धक जानकारी मिलती है।

कहा जाता है कि पीर बुद्ध शाह सैयद खानदान में पैदा हुए थे, जिस खानदान में हजरत मोहम्मद की सबसे छोटी बेटी की शादी हुई थी। गुरु नानक देव जी की मक्का मदीना व बगदाद की उदासी (यात्रा) के दौरान उनसे प्रभावित होकर करीब 200 परिवार वहाँ से पंजाब में आकर बस गये थे। इन्हीं परिवारों में वक्त के साथ साई मियां मीर (जिनके हाथों स्वर्ण मंदिर अमृतसर की नींव रखी गयी थी), पीर भूरे शाह, शाह हुसैन और पीर बुद्ध शाह जैसे लोकप्रिय सूफी

फकीर हुए।

पीर बुद्ध शाह का असली नाम बदरूद्दीन था जिनके बुजुर्ग शाह कयूम कादरी 15वीं शताब्दी में बगदाद से आकर सटौरा में बस गये थे। सन् 1647 में पैदा हुई बदरूद्दीन पटियाला जिले में स्थित घड़ाम के पीर भीखण शाह के शागिर्द बन गए और इन दोनों का 9वें गुरु तेग बहादुर जी से काफी मेलजोल था। जब गुरु गोबिन्द सिंह पांवटा साहिब आए, तो पीर बुद्ध शाह और गुरु गोबिन्द सिंह का मेलजोल बढ़ गया और पीर बुद्ध शाह की सिफारिश पर गुरु गोबिन्द सिंह ने 500 पठानों के दस्ते को अपने साथ मिलाया था। इन पठानों के सरदार औरंगजेब की नाराजगी के शिकार इन पठानों को कोई भी राजा या नवाब अपनी फौज में मिलाने की हिम्मत नहीं कर रहा था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि पहाड़ी राजाओं ने गुरु गोबिन्द सिंह जी पर हमला करने से पहले अधिकतर पठानों को धन और लूट के बहाने अपने साथ मिला लिया था। जब पीर बुद्ध शाह को पठानों के पास पलटने की खबर मिली तो वे तुरंत अपने चार पुत्रों, दो भाइयों और 700 अनुयायियों के साथ सटौरा से चलकर गुरु गोबिन्द सिंह के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़े। इस लड़ाई में गुरु की फौज को जीत तो हासिल हुई, लेकिन पीर बुद्ध शाह के दो पुत्र अशरफ शाह और मोहम्मद शाह व भाई भूरे शाह शहीद 500 अनुयायी शहीद हुए।

लड़ाई के उपरांत तोहफे के तौर पर पीर बुद्ध शाह की मांग पर गुरु गोबिन्द सिंह ने उन्हें अपनी पगड़ी, एक छुरी और केश फंसे हुए अपना कंधा भेंट किया। भाई काशन सिंह नाभा ने 'महान कोष' में लिखा है कि नाभा के महाराजा भरपूर सिंह (1840-1860) ने कीमती तोहफे व जागीर देकर वे निशानियां पीर बुद्ध शाह के वंशजों से लेकर नाभा रियासत के गुरुद्वारा सिरोपाव में गुरु गोबिन्द सिंह की अन्य निशानियों के साथ सम्मानपूर्वक टिका ली गई।

सन् 1701-04 के दौरान आनंदपुर साहिब में पहाड़ी राजाओं व मुगल फौजों के साथ गुरु गोबिन्द सिंह का तनाव बढ़ा तो सरहन्द के सूबेदार वजीर खां के हुक्म से सटौरा के दरोगा उस्मान खां ने 1704 में पीर बुद्ध शाह की सारी जायदाद को आग लगा दी व छतबीड़ के जंगलों में ले जाकर पीर के शरीर के पुर्जे-पुर्जे करके उन्हें मार डाला गया। सन् 1709 में पीर बुद्ध शाह की मौत का बदला बंदा सिंह बहादुर ने उस्मान खां को मारकर व सटौरा को तहस-नहस करके लिया।

राजपूत राजाओं द्वारा गुरु गोबिन्द सिंह का विरोध, पीर बुद्ध शाह द्वारा अपने बेटों, भाई, अनुयायियों और आखिर में अपनी जान को गुरु गोबिन्द सिंह के लिए कुर्बान कर देना आदि कुछ ऐसे पहलू हैं जो किसी न किसी वजह से अनछुए रहते हैं। शायद इसका मुख्य कारण लगातार इतिहास को एक पक्षीय रंग देने का प्रयास रहा है।

लुप्त होती तटीय सुरक्षा पंक्ति

■ रमेश कुमार दुबे

वन विनाश, जीवाश्म ईंधन के जलने से कार्बन डाइऑक्साइड की बढ़ती मात्रा, वैश्विक ताप वृद्धि, भौतिकतावादी जीवन दर्शन ने दुनिया के अस्तित्व के समक्ष संकट खड़ा कर दिया है।

इस साल अच्छी मानसूनी बारिश से जहां किसानों के चेहरे खिल उठे हैं वहीं देश के कई हिस्से बाढ़ की चपेट में आ चुके हैं। इस बाढ़ की वजह अच्छी बारिश उतनी नहीं है जितनी कि विकास की अंधी दौड़ में पानी के कुदरती निकासी तंत्र को भुला दिया जाना। शहरों का विकास नदियों के बाढ़ क्षेत्रों, तालाबों व समीपवर्ती कृषि भूमि की कीमत पर हो रहा है। शहरों के विस्तारीकरण के दौर में पिछले पांच दशकों में चालीस लाख बड़े और सवा करोड़ छोटे तालाब पाट दिए गए। इन पट गए तालाबों से हर साल भूगर्भीय जल की होने वाली रिचार्जिंग का काम ठप पड़ गया। कमोबेश यही हाल गांवों का भी है। बढ़ती आबादी के कारण चरागाहों, तालाबों, बरसाती नदी-नालों पर अतिक्रमण में तेजी आई। रासायनिक उर्वरकों के बढ़ते इस्तेमाल ने खेतों में एक कठोर पपड़ी का निर्माण किया जिससे बारिश का पानी रिसने के बजाय बहने लगा।

बाढ़ की एक वजह इमारती लकड़ी की बढ़ती मांग और वृक्षों की कटाई भी है। गौरतलब है कि वृक्ष बारिश के पानी को स्पंज की तरह सोखते हैं। हाल के वर्षों में शहरों में पालिथीन और घरेलू कचरा बाढ़ का एक प्रमुख कारण बन कर उभरा है। इन्हीं परिस्थितियों का नतीजा है कि जरा-सी बारिश से नदियां उफन जाती हैं और रेलवे लाइन व सड़कें पानी में डूब जाती हैं। स्पष्ट है कि दोष बारिश का नहीं, हमारी अदूरदर्शी नीतियों का है जिनके चलते हमने कुदरती सुरक्षा पंक्तियों को नष्ट कर डाला।

विकास की अंधी दौड़ में जो हाल तालाबों, चरागाहों, बरसाती नदी-नालों व वनों का हुआ, वही हाल मैंग्रोव वनों का हो रहा है। इसी का नतीजा है कि तटीय इलाकों में समुद्री तूफानों की विभीषिका में दिन दूनी रात चौगुनी रफतार से इजाफा हो रहा है। गौरतलब है कि दुनिया के सबसे बड़े जैविक और आनुवंशिक भंडारगृह के रूप में चर्चित मैंग्रोव को समुद्र के सदाबहार वन भी कहा जाता है। इसके महत्त्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि नब्बे फीसद समुद्री जीव-जंतु अपने जीवन का कुछ न कुछ हिस्सा मैंग्रोव तंत्र में अवश्य बिताते हैं। उष्ण और उपोष्ण कटिबंध के तटीय क्षेत्रों में पाई

जाने वाली मैंग्रोव वनस्पतियां कभी 3.2 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र को ढंके हुए थीं जो कि आज आधे से भी कम अर्थात् 1.5 करोड़ हेक्टेयर तक सिमट गई हैं। वैसे तो ये वन दुनिया के एक सौ बीस देशों में पाए जाते हैं लेकिन इनका आधा क्षेत्रफल पांच देशों (ब्राजील, इंडोनेशिया, आस्ट्रेलिया, नाइजीरिया व मेक्सिको) में पाया जाता है।

कभी भारत और दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में तटीय क्षेत्रों को आच्छादित करने वाले मैंग्रोव वनों का अस्सी फीसद हिस्सा पिछले छह दशकों में नष्ट हो गया। 'स्टेट ऑफ फारेस्ट रिपोर्ट' के मुताबिक भारत में 4,445 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर मैंग्रोव वन पाए जाते हैं जो कि कुल मैंग्रोव वनों का पांच फीसद है। इनमें से सत्तावन फीसद पूर्वी तट पर, तेईस फीसद पश्चिमी तट पर तथा बीस फीसद अंडमान निकोबार द्वीप समूह में पाए जाते हैं।

समुद्री तूफान जैसी आपदा के समय तटीय क्षेत्रों के लिए सुरक्षा पंक्ति का कार्य करने वाले मैंग्रोव वन गहरे संकट में हैं। वैसे तो इन वनों के अस्तित्व को लेकर काफी समय से चिंता जताई जा रही थी, लेकिन इंटरनेशनल यूनियन फॉर कंजरवेशन ऑफ नेचर (आइयूसीएन) की हालिया रिपोर्ट ने दुनिया भर के पर्यावरण प्रेमियों के माथे पर चिंता की लकीर खींच दी है। रिपोर्ट के अनुसार, तटीय क्षेत्रों में चल रही विकास गतिविधियों के कारण दुनिया भर में हर छह में से एक मैंग्रोव प्रजाति विलुप्त होने के कगार पर है। जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई और कृषि के कारण भी इन वनों पर खतरा मंडरा रहा है। विश्व में अंतर ज्वार भाटा क्षेत्रों में ये लवण निरोधी उष्ण कटिबंधीय और उपोष्ण कटिबंधीय मैंग्रोव पाए जाते हैं। ये अत्यंत संवेदनशील और खतरों से प्रभावित हैं। संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन के अनुसार मैंग्रोव वन प्रतिवर्ष एक से दो फीसद की दर से नष्ट हो रहे हैं और एक सौ बीस देशों में से छब्बीस देशों में इनके अस्तित्व पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं।

मैंग्रोव वनों का नष्ट होना आर्थिक और पर्यावरणीय दोनों दृष्टियों से घातक है। मैंग्रोव न केवल जलवायु परिवर्तन से लड़ने में सक्षम हैं बल्कि तटीय क्षेत्रों के उन लोगों को रोजी-रोटी भी मुहैया कराते हैं जिनके पास जीने-खाने का कोई दूसरा उपाय

नहीं है। मैंग्रोव अनेक जंगली जीवों को आश्रय प्रदान करने के साथ-साथ औषधीय महत्त्व की वनस्पतियों के अक्षय भंडार भी हैं। इनकी मजबूत जड़ें न केवल समुद्री लहरों से तटों का कटाव होने से बचाव करती हैं बल्कि काफी घने मैंग्रोव चक्रवाती तूफान की गति को धीमा करके तटीय आबादी को भारी तबाही से भी बचाते हैं। उदाहरण के लिए, वर्ष 1999 में ओड़िशा में आए भयंकर चक्रवात में उन इलाकों में बहुत कम हानि हुई थी जहां मैंग्रोव वनों का वजूद था।

चक्रवाती तूफान के बाद दिल्ली और ड्यूक विश्वविद्यालयों के शोधकर्ताओं की एक टीम ने ओड़िशा के केंद्रपाड़ा जिले में चक्रवात और मैंग्रोव के अंतर्संबंधों का अध्ययन किया। टीम ने पाया कि गांवों व तट के बीच मैंग्रोव की चौड़ाई और चक्रवाती तूफान से होने वाली मौतों में विपरीत संबंध है। चौड़ी पट्टी वाले मैंग्रोव क्षेत्रों में ग्रामीणों की बहुत कम मौतें हुईं। इसके विपरीत, जहां मैंग्रोव वनों की चौड़ाई कम थी वहां बड़े पैमाने पर जान-माल का नुकसान हुआ। अध्ययन में पाया गया कि वर्ष 1944 में ओड़िशा के केंद्रपाड़ा जिले में इकतीस हजार हेक्टेयर जमीन पर मैंग्रोव थे और गांव तथा तट के बीच मैंग्रोव वनों की औसत चौड़ाई 5.1 किलोमीटर थी। लेकिन उसके बाद से धान की खेती के लिए तटीय इलाकों से मैंग्रोव वनों को बड़े पैमाने पर साफ कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि गांवों और तट के बीच मैंग्रोव की औसत चौड़ाई सिकुड़ कर 1.2 किलोमीटर रह गई।

यही कारण है कि 1999 में ओड़िशा में आई चक्रवातीय लहरों ने दस हजार से अधिक लोगों को मौत की नींद सुला दिया। 26 दिसंबर 2004 को जब पूर्वी तट पर सुनामी लहरों का प्रकोप आया था तब तमिलनाडु के पिचावरम और मुथेपेट के घने मैंग्रोव वाले क्षेत्रों में सबसे कम विनाश हुआ। उस समय पर्यावरणविदों और आपदा प्रबंधन के विशेषज्ञों ने तटीय क्षेत्रों में मैंग्रोव की बाड़ विकसित करने का सुझाव दिया था। लेकिन उसके बाद भी नीति-निर्माताओं ने इस कुदरती सुरक्षा पंक्ति को भुला दिया।

दरअसल, तटीय इलाकों में खेती और विकासीय गतिविधियां मैंग्रोव वनों के लिए काल बन गई हैं। बढ़ती जनसंख्या, खाद्यान्न की मांग में वृद्धि के कारण मैंग्रोव वनों को अनुत्पादक मान लिया गया। इसीलिए इन्हें साफ कर धान की खेती, नमक उत्पादन, झींगा मछली पालन, आवासीय, बंदरगाह, औद्योगिक व पर्यटन केंद्रों के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। फिर मैंग्रोव वनों को जलावन, निर्माण, कागज और पीट बनाने के लिए बड़े

पैमाने पर काटा गया। बांधों और सिंचाई परियोजनाओं के कारण तटीय क्षेत्रों में ताजे पानी की मात्रा में कमी आई, जिससे समुद्री जल के खारेपन में बढ़ोतरी हुई। समुद्री पानी की क्षारीयता, प्रवाह और तापमान आदि में जो परिवर्तन आया है वह मैंग्रोव वृक्षों पर प्रतिकूल असर डाल रहा है।

जलवायु परिवर्तन से पैदा होने वाले खतरों ने आज पूरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में ले लिया है। वन विनाश, जीवाश्म ईंधन के जलने से कार्बन डाइऑक्साइड की बढ़ती मात्रा, वैश्विक ताप वृद्धि, भौतिकतावादी जीवन दर्शन ने दुनिया के अस्तित्व के समक्ष संकट खड़ा कर दिया है। इससे निपटने के लिए भले ही सम्मेलन, मसौदे व संधियां की जा रही हों लेकिन नतीजा वही ढाक के तीन पात वाला है। इसका कारण है कि मनुष्य विकास की अंधी दौड़ में प्रकृति की सुरक्षा पंक्तियों को तहस-नहस करता जा रहा है।

कार्बन तत्त्वों को सोख कर अपने भीतर समेटने की अद्भुत क्षमता मैंग्रोव वनों के भीतर है। नेशनल ज्योग्राफिक के फरवरी 2007 में छपे एक लेख के अनुसार मैंग्रोव कार्बन के भंडारघर हैं। किसी अन्य प्राकृतिक पारिस्थितिकी की तुलना में मैंग्रोव की शुद्ध कार्बन उत्पादकता सबसे अधिक होती है। मैंग्रोव क्षेत्र की एक हेक्टेयर मिट्टी प्रति मीटर की गहराई पर सात सौ टन कार्बन समेटे रहती है। लेकिन तटीय क्षेत्रों में विकासीय गतिविधियों के कारण मैंग्रोव वनों को काटा जा रहा है। इससे बड़े पैमाने कार्बन वायुमंडल में निर्मुक्त हो रही है जिससे ग्लोबल वार्मिंग की समस्या गंभीर रूप धारण करती जा रही है।

आज दुनिया की आधी जनसंख्या तटीय क्षेत्रों में स्थित शहरों व इलाकों में रहती है। ऐसे में ग्लोबल वार्मिंग के चलते समुद्र तल में होने वाली बढ़ोतरी से बड़े पैमाने पर लोगों को निचले इलाकों से निकाल कर सुरक्षित स्थानों पर बसाना होगा। करोड़ों लोगों का पुनर्वास आसान काम नहीं होगा। दक्षिण एशिया और दक्षिण प्रशांतीय द्वीपों के निचले इलाकों से लोगों का बाहर निकाला जाना शुरू भी हो चुका है। ऐसे में जलवायु परिवर्तन को रोकने या उससे बचाव के लिए किए जा रहे अन्य उपायों के साथ-साथ हमें मैंग्रोव वनों के संरक्षण की ओर भी ध्यान देना होगा। इससे न केवल वायुमंडलीय कार्बन डाइऑक्साइड में कमी आएगी बल्कि समुद्री तूफानों की विभीषिका से तटीय लोगों की सुरक्षा होगी और उनकी रोजी-रोटी भी नहीं छिनेगी।

साभार : जनसत्ता

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए